उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—२ जून, १९८३ अंक—६

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्री रामकृष्ण ने कहा है

(१)

तुम रात को आकाश में कितने तारे देखते हो, परन्तु सूरज उगने के बाद उन्हें देख नहीं पाते। किन्तु इस कारण क्या तुम यह कह सकोगे कि दिन में आकाश में तारे नहीं होते! हे मानव, अज्ञान अवस्था में तुम्हें ईश्वर के दर्शन नहीं होते इसलिए ऐसा न कहो कि ईश्वर हैं ही नहीं।

(२)

बड़े-बड़े गोदामों में चूहों को पकड़ने के लिए दरवाजे के पास चूहादानी रखकर, उसमें लाई-मुरमुरे रख दिये जाते हैं। उसकी सोंधी-सोंधी महक से आकृष्ट हो चूहे गोदाम में रखे हुए कीमती चावल का स्वाद चखने की बात भूल जाते हैं और लाई खाने जाकर चूहादानी में फँसकर मारे जाते हैं। जीव का भी ठीक यही हाल है। कोटि-कोटि विषय-सुखों के घनीभूत समष्टिस्वरूप ब्रह्मानन्द के द्वारदेश पर अवस्थित होते हुए भी जीव उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न न कर संसार के क्षुद्र विषय-सुखों में लुब्ध हो माया के फन्दे में फँसकर मारा जाता है।

(३)

छोटा बच्चा घर में अकेले ही बैठे-बैठे खिलौने लेकर मनमाने खेल खेलता रहता है, उसके मन में कोई भय या चिन्ता नहीं होती। किन्तु, जैसे ही उसकी माँ वहाँ आ जाती है वैसे ही वह सारे खिलौने छोड़कर 'माँ--माँ' कहते हुए उसकी ओर दौड़ जाता है। तुम लोग भी इस समय धन-मान-यश के खिलौने लेकर संसार में निश्चिन्त होकर सुख से खेल रहे हो, कोई भय या चिन्ता नहीं है। पर यदि तुम एकबार भी उस आनन्दमयी माँ को देख पाओ तो फिर तुम्हें धन-मान-यश नहीं भाएँगे, तुम सब फेंककर उन्हीं की ओर दौड़ जाओगे।

रे मन, भजन किया कर !

—केदारनाथ लाभ

श्रीरामकृष्ण का तू रे मन, भजन किया कर !
उनके चरण-कमल को शत-शत नमन किया कर !!

संसार एक सपना
कोई यहाँ न अपना
त्रय-ताप-कुंड में गिर
है व्यर्थ और तपना

आकुल - विकल - हृदय से, अनुराग से, विनय से
उन पर सदैव अर्पण श्रद्धा-सुमन किया कर !

वे पाप—ताप—हारी
जग हेतु देह-धारी
मद, मोह, काम-कांचन—
हित खड्ग वे दुधारी

अपना उन्हें बनाकर, चित्-पद्म पर बिठाकर
हो ध्यान में समाहित, उनकी शरण लिया कर !

ले जोड़ एक नाता
स्वामी पिता कि माता
सुख-दुःख उन्हें सुना तू
वे बन्धु मित्र त्राता

अपना अहं गलाकर, आसक्ति सब मिटाकर
उनकी अपार करुणा में आमरण जिया कर !

जप योग ध्यान तेरे
वे ज्ञान गान तेरे
हैं एकमात्र वे ही
भगवान प्राण तेरे

निष्काम भावना से, अन्तर-उपासना से
उनकी कृपा-सुधा तू, पल-पल मगन पिया कर !
श्रीरामकृष्ण का तू रे मन, भजन किया कर !!

सम्पादकीय सम्बोधन

आतम ज्ञान बिना सब सूना

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

यह दृश्यमान जगत बाहर से जैसा हमें दिखाई पड़ता है, वैसा है नहीं, और जैसा है वैसा दिखाई नहीं पड़ता। यह जगत नित्य, शाश्वत और स्थायी दिखाई पड़ता है, और है अनित्य, नश्वर और क्षणभंगुर। यह जगत सुखमय, रंगीन और मोहक दिखाई पड़ता है, और है अनन्त-अशेष दुःखों से भरा, ईर्ष्या-द्वेष, ममता, स्वार्थ-परता, हत्या, लूट, बलात्कार और कृतघ्नता में आकंठ डूबा, भयानकता और पापाचार में लिप्त। किलकते-फुदकते बच्चे, इठलाते युवक, मचलती युवतियाँ, प्यार के मीठे नग्मे और तराने, लाउड-स्पीकरों पर थिरकतीं फिल्मी धुनें, रंगीन बल्बों से छनकर निकलती मादक रोशनी की बाँहों में लिपटे-सिमटे शहर और आल्हा, विरहा, कजरी, बारहमासे, झूमर, सोहर और फाग की स्वर-लहरियों में डूबते-उतराते गाँव और बस्तियाँ! ओह! ये सब कितने मधुर-मादक और उन्मादक लगते हैं! लेकिन इन सबके भीतर एक आह, कराह, करुण-क्रन्दन और आर्तनाद की बहती अन्तर्धारा होती है, जिस पर हठात् हमारा ध्यान नहीं जाता। यहाँ तो—

शून्य होने को भरते मेघ
उदित होता छिपने को चंद
यहाँ खिलते झरने को फूल
दीप जलता होने को मंद
यहाँ किसका अनन्त यौवन!

महाकाल अपनी भयंकर विनाश-लीला का तांडव प्रतिक्षण कर रहा है। संहार के विराट् सागर में सबको लीलने के लिए मानो वह पल-पल ज्वार पर ज्वार उठा रहा है। पाप और पापी, राजा और प्रजा, सुन्दर और असुन्दर, मंत्री और अधिकारी सभी महाकाल के मुख में, दीपक पर पतंगों की तरह, प्रवेश करने के लिए क्यू में खड़े हैं। यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं, कुछ भी स्थायी नहीं। हमारा ज्ञान, विज्ञान, नृत्य-संगीत, बड़ी-बड़ी फैक्टरियाँ और चमचमाती गाड़ियाँ, वातानुकूलित महल-दुमहलें और सारे जीव-जन्तु उसी महानाश—मृत्यु—की ओर तीव्रता से बढ़ रहे हैं।

रवि बाबू की एक बड़ी अच्छी कविता है, इस संदर्भ में—

की गम्भीर दुःखे मग्न समस्त आकाश
समस्त पृथिवी। चलितेछि यतदूर
शुनिते एकमात्र मर्मान्तिक सुर
"येते आमि दिब ना तोमाय।" धरनीर
प्रान्त हते नीलाम्बेर सर्वप्रान्त तीर
ध्वनिते छे चिरकाल अनाद्यन्त रवे
"येते नाहि दिब येते नाहि दिब" सबे
कहे 'येते नाहि दिब'। तृण क्षुद्र अति
तारे ओ बाँधिया वक्षे माता वसुमति
कहिछेन प्राणपने 'येते नाहि दिब'।
आयुक्षीण दीप मुखे शिखा निब-निब
आँधारेर ग्रास हते के टानिछे तारे
कहिते छे शतबार 'येते दिब ना रे'

हाय! किस गंभीर दुःख में मग्न है यह सारा आकाश और यह सारी पृथ्वी! जितनी दूर तक जाता हूँ, एक मात्र यही प्राणलेवा सुर, यही मर्मभेदी आवाज सुनाई पड़ती है—'मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी।' धरती के इस छोर से लेकर नीले बादलों के उस छोर तक एक ही सनातन स्वर गूँज रहा है—'नहीं जाने दूँगी।' सब की यही वाणी है, 'नहीं जाने दूँगी।' वह दीप शिखा आयु-क्षीण होकर अब बुझी तब बुझी की हालत तक पहुँच गयी

है। वह अंधकार का ग्रास होना ही चाहती है। तब भी न जाये कौन सारी ताकत लगा कर कह रही है—'नहीं रे, नहीं जाने दूँगी रे !'

ये अनन्त चराचर स्वर्ग मर्त्य छेये
सब चेये पुरातन कथा सब चेये
गभीर क्रन्दन 'येते नाहि दिब' हाय !
तब येते दिते हय, तबू चले याय।

चलिते छे एमनि अनादि काल हते
प्रलय समुद्रवाही सृजनेर स्रोते
प्रसारित व्यग्रबाहु ज्वलन्त आँखिते
'दिब न दिब ना येते' डाकिते-डाकिते
हु-हु करे तीव्र वेगे चले याय सबे
पूर्ण करि विश्वतट आर्त्त कलरवे
सम्मुख उर्म्मिरे डाके पश्चातेर ढेउ
'दिब ना दिब ना येते' नाहि सुने केउ
नाहि कोनो साड़ा।

इस अनन्त चराचर जगत में, स्वर्ग से लेकर मर्त्य लोक तक सबसे पुरानी बात; सबसे गम्भीर क्रन्दन यही है—'नहीं जाने दूँगी, नहीं जाने दूँगी।' फिर भी हाय, जाने देना ही पड़ता है। जाने वाला इस रोकथाम के करुण स्वर के बावजूद चला ही जाता है। ऐसा ही अनादि काल से होता चला आ रहा है। सृजन के इस प्रलय समुद्रवाही स्रोत में, विकलता से बाँहें फैलाये हुए, जलती आँखों से—'नहीं जाने दूँगी, नहीं जाने दूँगी' कहते-कहते, इस संसार के तट को आर्तनाद से पूर्णकर सभी हू-हू करके तीव्र वेग से चले जाते हैं। आगे के जल के वेग को पीछे की लहर चीख-चीख कर कहती है—'नहीं जाने दूँगी, नहीं जाने दूँगी।' किन्तु कोई नहीं सुनता, कोई उत्तर नहीं देता। बस सब चलते ही चले जाते हैं।

यही है संसार। हम लाख चेष्टा करके भी इस मृत्यु-तरंग को रोक नहीं सकते—एक पल, एक क्षण के लिए भी नहीं रोक सकते। लेकिन फिर भी हम दीवाने हैं इस की झूठी शोभा के, हम मुग्ध है, बेसुध हैं, विस्मृत हैं इस संसार की कृत्रिम क्षणिक, दाहक और सर्वग्रासी सुन्दरता पर।

आप कहेंगे—'जीवन और जगत् का यह आतंकवादी चित्र है। भयावह तस्वीर है यह उस संसार की जिसकी गोद में हम अपनी पूरी जीवन-यात्रा करते हैं—उल्लास और उमंग के साथ। और फिर अगर यह संसार इतना ही भयावह है, क्षणिक है, कुरूप और वीभत्स है तो फिर क्यों न हम जब तक जीवित हैं, तब तक, जहाँ तक संभव हो इसी संसार का रस लेकर—पूर्णता में इस रस का उपभोग कर, यहाँ से चले जायँ ?"

एक हद तक यह विचार सही भी लगता है। लेकिन जीवन और जगत को देखने की यह दृष्टि एक खतरा भी पैदा करती है। वह यह कि हम मिथ्या और असत् वस्तु को सही मानकर जब आचरण करने लगते हैं तब पूरे भ्रम का एक जाल ही हम सिरज लेते हैं और हमारा हर आचरण ही गलत होने लगता है। अँधेरे में रस्सी को साँप मानकर हम कितना कूदते-फाँदते हैं ! कितना तड़पते-छटपटाते हैं ! जब रोशनी आने पर हम देखते हैं कि जिसके भय से हम आक्रांत थे वह साँप नहीं, रस्सी है, तब हमें किये पर कितना पछतावा होता है ! और तब हम कितनी शांति और आश्वस्ति में आ जाते हैं ! इसी तरह क्या हमारी सारी जिन्दगी कूदने फाँदने, दौड़ने-धूपने की एक थकान भरी गाथा बन कर नहीं रह गयी है ?

संसार और शरीर को जब तक हम सत्य मानते हैं तब तक हम छटपटाहटों, विकलताओं और पीड़ाओं के मरु-प्रदेश में ही भटकते रहते हैं। अनुकूलता में प्रसन्न और प्रतिकूलता में पीड़ित होते रहते हैं। संयोग में सुख और वियोग में दुःख का अनुभव करते रहते हैं। जन्म में प्रफुल्लता और मृत्यु में महाशोक के सागर में बहने लगते हैं।

संसार और शरीर को सत्य मानने पर हममें आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है। कामना से क्रोध का आविर्भाव होता है। क्रोध मोह को उत्पन्न करता है। मोह से स्मृति जाती रहती है। स्मृति

भ्रंश होने से बुद्धि नष्ट होती है। और बुद्धि-नाश से विनाश होता है।

संसार और शरीर दोनों जड़ हैं। इनसे जुड़कर हम जड़ता से ही अपने को बांधते हैं। जड़ता से बँधना आसक्ति के कारण ही होता है। और आसक्ति ही हमें संसार-चक्र में बार-बार उत्पन्न होने को विवश करती है। आसक्ति से छूटना ही मुक्ति का अर्थात् आनन्द का, चिरंतन आनन्द का रहस्य है।

आसक्ति से मुक्त होने के लिए अज्ञान के केंचुल को उतारकर, ज्ञान के अपने सत्य स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिए, दृढ़ संकल्प के साथ सत्य के संधान में लग जाना पड़ेगा। यही हमारा धर्म है।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक व्याख्यान में कहा था—"हमारे सांसारिक लोग कहते हैं, 'धर्म, दर्शन ये सब व्यर्थ की वस्तुएँ लेकर दिमाग खराब मत करो। दुनिया में रहो, माना यह दुनिया बड़ी खराब है, पर जितना हो सके इसका मजा ले लो।' सीधे-सादे शब्दों में इसका अर्थ यही है कि दिन-रात पाखण्डपूर्ण जीवन व्यतीत करो—अपने घाव को जब तक हो सके, ढके रखो। एक के बाद दूसरी जोड़-गाँठ करते जाओ, यहाँ तक कि सब कुछ नष्ट हो जाय और तुम केवल जोड़-गाँठ का एक समूह मात्र रह जाओ। इसी को कहते हैं सांसारिक जीवन। जो इस जोड़-गाँठ से संतुष्ट हैं, वे कभी भी धर्मलाभ नहीं कर सकते। जब जीवन की वर्त्तमान अवस्था में भयानक अशान्ति उत्पन्न हो जाती है, जब अपने जीवन के प्रति भी ममता नहीं रह जाती, जब इस जोड़-गाँठ पर अपार घृणा उत्पन्न हो जाती है, जब मिथ्या और पाखण्ड के प्रति प्रबल वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है, तभी धर्म का प्रारम्भ होता है। भगवान बुद्ध ने बोधिवृक्ष के नीचे दृढ़ स्वर से जो बात कही थी, उसे जो अपने रोम-रोम से बोल सकता है, वही वास्तविक धार्मिक होने योग्य है। संसारी होने की इच्छा उनके भी हृदय में एक बार हुई थी। इधर वे स्पष्ट रूप से देख रहे थे कि उनकी यह अवस्था, यह सांसारिक जीवन एकदम भूल है; पर इसके बाहर जाने का उन्हें कोई मार्ग नहीं मिल रहा था। प्रलोभन एकबार उनके निकट आया और कहने लगा—छोड़ो भी सत्य की खोज, चलो, संसार में लौट चलो, और पहले जैसा पाखण्डपूर्ण जीवन बिताओ, सब वस्तुओं को उनके गलत नामों से पुकारो, अपने निकट और सब के निकट दिन-रात मिथ्या बोलते रहो। यह प्रलोभन उनके पास पुनः आया था, पर उस महावीर ने अपने अतुल पराक्रम से उसे उसी क्षण परास्त कर दिया। उन्होंने कहा, 'अज्ञान पूर्वक केवल खा-पीकर जीने की अपेक्षा मरना ही अच्छा है; पराजित होकर जीने की अपेक्षा युद्ध-क्षेत्र में मरना श्रेयस्कर है।' यही धर्म की भित्ति है। जब मनुष्य इस भित्ति पर खड़ा होता है, तब समझना चाहिए कि वह सत्य की प्राप्ति के पथ पर, ईश्वर की प्राप्ति के पथ पर चल रहा है। धार्मिक होने के लिए भी पहले यह दृढ़ प्रतिज्ञा आवश्यक है। मैं अपना रास्ता स्वयं ढूंढ़ लूँगा। सत्य को मानूँगा अथवा इस प्रयत्न में प्राण दे दूंगा। कारण, संसार की ओर से तो और कुछ पाने की आशा है ही नहीं; यह तो शून्य स्वरूप है—दिन-रात उड़ता जा रहा है। आज का सुन्दर, आशापूर्ण तरुण कल का बूढ़ा है। आशा, आनन्द, सुख—ये सब मुकुलों की भाँति कल के शिशिरपात-से नष्ट हो जायँगे। यह हुई इस ओर की बात; और दूसरी ओर है विजय का प्रलोभन—जीवन के समस्त अशुभों पर भी विजय-प्राप्ति की संभावना और तो और, स्वयं जीवन और जगत पर भी विजय-प्राप्ति की संभावना है। इसी उपाय से मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। अतएव जो लोग इस विजय-प्राप्ति के लिए, सत्य के लिए, चेष्टा कर रहे हैं, वे ही सत्य-पथ पर हैं, और सारे वेद भी यही प्रचार करते हैं, 'निराश मत होओ; मार्ग बड़ा कठिन है—छुरे की धार पर चलने के समान दुर्गम; फिर भी निराश मत होओ; उठो, जागो और अपने परम आदर्श को प्राप्त करो।'[1]

अपने परम आदर्श को प्राप्त करने के लिए छुरे की धार पर चलने के समान दुर्गम पथ पर चलना होगा। क्या है हमारा परम आदर्श? संसार के रूप को, उसके वास्तविक रूप को जानकर, उसके साथ अपना सम्बन्ध

१. स्वामी विवेकानन्द : ज्ञान योग : श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर : पृ० १३०-३२

स्थापित करना। जब तक हम संसार को उसके मूल रूप में नहीं जान लेते तबतक हम उसे गलत नाम-रूपों में जानते रहेंगे और दुःख-भोग करते रहेंगे। हम जानते हैं कि नाम और रूप मिथ्या होते हैं। जो कुछ भी परिवर्त्तनशील है वह असत् है, मिथ्या है। और चूंकि नाम और रूप परिवर्त्तनशील हैं अतः वे मिथ्या हैं। तो सत्य क्या है ?

सत्य है एकमात्र परमात्मा—एकमेवाद्वितीयम्। इस परमात्मा को जानना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। उस एक को जान लेने से ही सब कुछ जान लिया जाता है। उसको नहीं जानने से कुछ नहीं जाना जाता है। और इसी से हम भाग-दौड़ की जिन्दगी जीते हुए अंत में थक कर, हार कर, हाँफते हुए अपने प्राण विसर्जन कर देते हैं।

कहाँ है वह परमात्मा ? वह हमी में है। वह हमी है। उपनिषदें डंके की चोट पर इस तथ्य की घोषणा करती है।

एको देवः सर्व भूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः,
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥[2]

अर्थात् वहीं एक देव ही सभी प्राणियों में छिपा हुआ सर्वव्यापी और सब प्राणियों का अन्तरात्मा, परमात्मा है। वही सबके कर्मों का अधिष्ठाता, समस्त जीवों का निवास स्थान, सब का साक्षी, चेतनस्वरूप, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है।

चूंकि वह परमात्मा सब देश में है, सर्वत्र है, अतः यहाँ भी है। वह सभी कालों में है, अतएव इस समय भी है, वह सभी जीवों में है, इसलिए हम में भी है। आत्म तत्त्व की उपलब्धि करने वालों को इस तथ्य पर निरन्तर विचार करते रहना चाहिए। हमें इस बात में दृढ़ आस्था होनी चाहिए कि परमात्मतत्त्व ही वास्तविक तत्त्व है। इसके अतिरिक्त कुछ भी तत्त्वपूर्ण नहीं है। तत्त्व वह है जो चिरन्तन है, सर्वत्र है और सदैव है। इस तत्त्व को जान लेने पर जीवन और जगत के सम्बन्ध में हमारे सारे संशय दूर हो जाते हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥[3]

अर्थात् कार्य और कारण स्वरूप उन परात्पर परब्रह्म को तत्त्व से जान लेने पर इस जीव के हृदय की अविद्यारूपी गाँठ खुल जाती है जिसके कारण उसने इस जड़ शरीर को ही अपना स्वरूप मान रखा है। इतना ही नहीं उसके समस्त संशय सर्वथा मिट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। यानी यह जीव सारे बन्धनों से मुक्त होकर परमानन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

जब तक हम अपने आत्मस्वरूप को नहीं जान लेते तभी तक यह जड़ और मरणधर्मा जगत हमें मोहक, मादक और उन्मादक लगता है।

जब तक हम अपने आत्मस्वरूप को नहीं जान लेते तभी तक ईश्वर असत्य, काल्पनिक और बकवास लगते हैं तथा संसार और शरीर ही सत्य और अपने प्रतीत होते हैं।

संसार और शरीर का सत्य एवं आत्मीय लगना ही माया और महाकाल के सर्वग्रासी मुख में प्रविष्ट होने के लिए स्वयं को झोंकना है।

आत्मस्वरूप का बोध हो जाने पर 'मैं' और 'मेरा' का भाव मर जाता है, अपने-परायेपन का द्वैत-भाव झड़ जाता है और हमारी चेतना में खिल उठता है अद्वैत का, भूमा का शाश्वत शतदल।

जहाँ हम कुछ अन्य नहीं देखते, कुछ अन्य नहीं सुनते तथा कुछ अन्य नहीं जानते, वह भूमा है।

जहाँ हम कुछ और देखते हैं, कुछ और सुनते हैं एवं कुछ और जानते हैं, वह अल्प है।[4]

जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वह मर्त्य है। सुख—सच्चा सुख, एक अविनाशी आनन्द, एक अमृत आनन्द—भूमा में है, अद्वैत में है, आत्म-ज्ञान में है, अल्पता में नहीं, द्वैत में नहीं, संसार और शरीर में नहीं।

2. श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/११ 3. मुण्डकोपनिषद् २/२/८ 4. छान्दोग्य उपनिषद् ६२७

यह भूमा ही सर्वत्र है, सब कुछ है और आत्मा है। इसी भूमा को, आत्मा को जान लेने पर, प्राप्त कर लेने पर कुछ और जानना शेष नहीं रह जाता।

आत्मा को पहचान कर परमात्मा को ही हम पहचानते हैं। आत्मा को उपलब्ध कर, परमात्मा को ही हम उपलब्ध करते हैं। आत्म ज्ञान से ही परमात्मा-ज्ञान भी होता है। श्रीरामकृष्ण कहते थे—"मनुष्य स्वयं को पहचानने से भगवान् को पहचान सकता है। 'मैं' कौन है? हाथ, पैर, रक्त, मांस—इनमें से 'मैं' कौन है? इस तरह भलीभांति विचार करने पर दिखाई देता है कि 'मैं' नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। जिस प्रकार प्याज का छिलका अलग करते जाओ तो छिलका ही छिलका निकलता जाता है, सार भाग कुछ मिलता ही नहीं, उसी प्रकार विचार करने पर 'मैं' पन नाम से कुछ भी नहीं मिलता। अन्त में जो बचता है वही आत्मा या चैतन्य है। 'मैं' 'मेरा' के दूर हो जाने पर भगवान् दर्शन देते हैं।"[5]

इस आत्मा को ढूंढना नहीं, केवल पहचान लेना है। खोजना नहीं, केवल जान लेना है। ढूंढते और खोजते हैं हम उसे जो हमसे अलग है, भिन्न है, दूर है। जो हम में है, जो हमसे अभिन्न है, और जो हम स्वयं ही हैं वस्तुतः, उसे खोजना कहाँ है? उसे खोजने के लिए भटकना अज्ञान है और उसे जान लेना ज्ञान है। मगर उसे हम जल्दी जान पाते नहीं। हमारी दशा उस प्रेमिका की तरह है जो रोती हुई कहती है :—

मैं और मेरा यार दोनों इक बस्ती में बसते हैं,
मगर किस्मत की खूबी है कि दर्शन को तरसते हैं।

अजब हैरानी है! एक गाँव में रहकर भी मुलाकात को तड़प रही है महबूबा। छटपटाती खोजती फिर रही है प्रेमिका! कहाँ है मेरा यार! कहाँ है मेरा प्रियतम! कहाँ है मेरा दिलवर, मेरा देवता, मेरा प्रभु! उस प्रेमिका से कहना होगा—बन्द करो भटकना, बन्द करो दर-दर की ठोकरें खाना, बन्द करो यहाँ-वहाँ तलाशने की कोशिश, तुम सीख लो ठहरना अपने गाँव में। बैठी रहो अपने गाँव में! तुम्हारे ही गाँव में, नहीं, तुम्हारे ही घर में, नहीं-नहीं तुम्हीं में तुम्हारा महबूब बैठा हुआ है और तू तलाश रही है बाहर। अपने भीतर झाँक पगली! अपना घूँघट हटा दीवानी! तू पायेगी तेरा प्रियतम तुम्हारे बिल्कुल करीब था, सदा से था, हमेशा था और तू नाहक परेशान हो रही थी।

एक आदमी आधी रात को उठा और तमाकू पीने की इच्छा से टिकिया सुलगाने के लिए पड़ोसी के घर जाकर दरवाजा खटखटाने लगा। घर में सभी लोग सो गये थे। काफी देर बाद एक व्यक्ति ने दरवाजा खोला और पूछा, "क्यों जी, क्या बात है?" इस आदमी ने कहा, "तमाखू पीना है, टिकिया सुलगाने के लिए थोड़ी अंगार चाहिए थी" तब पड़ोसी ने कहा, 'तुम भी बड़े अजीब हो! अंगार के लिए आधी रात को इतनी तकलीफ उठाकर तुम यहाँ आए, इतना दरवाजा खटखटाया, पर तुम्हारे तो हाथ ही में लालटेन जल रही है!" मनुष्य जो पाना चाहता है वह उसके पास ही है, फिर भी वह उसके लिए नाना जगह भटकता फिरता है।[6]

सचमुच, हमें भटकना नहीं, ठहर जाना है। दौड़ना नहीं, रुक जाना है। छटपटाना नहीं, शान्त हो जाना है। बाहर नहीं, अपने भीतर झाँकना है। धारा नहीं, राधा हो जाना है।

कबीर ने गाया है—बड़ी मस्ती में अनुभूति का एक गीत गाया है—

पानी बिच मीन पियासी।
मोहि सुनि-सुनि आवत हाँसी॥

आतम ज्ञान बिना सब सूना, क्या मथुरा क्या काशी।
घर में वस्तु धरी नहिं सूझै, बाहर खोजन जासी॥
मृग की नाभि माँहि कस्तूरी, वन-वन फिरत उदासी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सहज मिले अविनासी॥

हाँ, मछली पानी में ही है, मगर प्यासी है। एक अजीब, अचम्भे की, हँसी, हैरानी और परेशानी की बात है यह। मगर है बात सही। आतम ज्ञान बिना सब सूना,

५. अमृतवाणी : रामकृष्ण मठ, नागपुर, वाणी ७३६
६. अमृतवाणी : श्रीरामकृष्णदेव : रामकृष्ण मठ, नागपुर पृ० १९०—९१

क्या मथुरा क्या कासी ! अगर आत्म ज्ञान नहीं हुआ तो सारा जीवन व्यर्थ है, संसार में जन्म लेना, संसार में रहना और संसार का बने रहना—सब व्यर्थ है। आत्म-ज्ञान नहीं हो तो काशी उजाड़ और गंगा अंगार ही लगेगी ! मथुरा और काशी जाने से, चारो धाम और चौबीसों तीर्थ का पर्यटन करने से कुछ नहीं होने को।

यह 'आतम ज्ञान' क्या है ? ज्ञान के द्वारा, सत्-असत् के विवेक के द्वारा असत् को त्याग और सत् को ग्रहण कर अपने मूल स्वरूप में स्थित हो जाना। 'आतम ज्ञान' का साधक 'नेति-नेति' का विचार करते हुए मिथ्या वस्तुओं को छोड़ता जाता है और जहाँ विचार समाप्त हो जाता है, जहाँ जानना कुछ शेष नहीं रह जाता वहाँ आत्मा का आलोक—सौ-सौ सूर्यों के आलोक की तरह—उसके भीतर जगमगा उठता है। वह समाधि-मग्न हो जाता है। उसे आत्मज्ञान यानी ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है। श्रीरामकृष्ण कहते थे—"चोर घर में घुसकर अँधेरे में वस्तुओं को टटोलता है। मेज पर हाथ रखा, 'यह नहीं' कहकर छोड़ दिया। फिर शायद कुर्सी पर हाथ रखा, उसे भी 'यह नही' कहकर छोड़ दिया। इस तरह 'यह नहीं' 'यह नहीं' ('नेति'-'नेति') करते हुए, एक के बाद एक वस्तुओं की छानबीन करते करते अन्त में उसका हाथ तिजोरीवाली पेटी पर पड़ जाता है। तब वह 'यह है !' ('इति') कह उठता है, और वहीं उसकी खोज समाप्त हो जाती है। ब्रह्म का अनुसन्धान भी इसी प्रकार है।"

और इस प्रकार नेति-नेति के द्वारा हम जिस 'इति' पर पहुँचते हैं वही हमारा आत्मस्वरूप है, वही 'आतम ज्ञान' है। इस आत्म ज्ञान के होते ही हम समझ जाते हैं कि—

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वं एकोऽहं चिद्रसो ऽमलः ॥[6]

आह ! द्वैत-भाव ही सारे दुःखों का मूल है, कारण है। इन दुःखों से मुक्त होने की कोई अन्य औषधि नहीं, सिवा इस अनुभूति के कि दृश्यमान सारा जगत् मिथ्या है और मैं शुद्ध एक परम चैतन्य तथा आनन्द के अमल रस से परिपूर्ण हूँ।

और आनन्द के अमल रस से परिपूर्ण होकर हम यह साह्लाद घोषणा कर उठते हैं—

न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिः शान्ता निराश्रया।
अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम् ॥[7]

कि मेरा न कोई बन्धन है, न कोई मोक्ष (क्योंकि आत्मा सदैव मुक्त है)। आश्रय और आधार के समाप्त हो जाने के कारण मेरी भ्रान्ति शान्त हो गयी है, समाप्त हो गयी है। (हमलोग अपने को बद्ध जीव समझते हैं इसी से मुक्ति की खोज करते हैं। यह मात्र भ्रम है जिसका कारण अपने शुद्ध स्वरूप का अज्ञान है। जब हम अपने आत्म के शुद्ध स्वरूप पर निरन्तर विचार करते हैं तब यह अज्ञान नष्ट हो जाता है। भ्रान्ति अज्ञान का आधार या आश्रय खो देती है और मिट जाती है।) अहा, यह संसार यद्यपि मुझमें स्थित है तथापि वास्तविक रूप से इसकी कोई सत्ता नहीं है।

और तब हम अपने शुद्ध स्वरूप को जानकर कह उठते हैं—

न मृत्युर्न शंका न मे जाति भेदः
पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।
न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखम्
न मन्त्रं न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।

जब हम अपने इस स्वरूप को जान लेते हैं, जब हम इस तथ्य का और तत्व का उद्घाटन कर लेते हैं कि मैं चिदानन्द रूप हूँ, मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ तब यह संसार रहते हुए भी हमारे लिए नहीं रहता। तब यह शरीर रहते हुए भी हमारे लिए नहीं रहता। अर्थात् तब संसार की भयावहता, कुरूपता, मरणधर्मिता हमारे लिए

6. अष्टावक्र संहिता : २/१६

7. वही २/१८

विनष्ट हो जाती है। सारा जगत् ही हमें आनन्दमय, उल्लासमय, संगीत और नृत्यमय दिखाई पड़ने लगता है। एक शिव-संगीत से गुंजित, एक पार्वती-नृत्य से पूरित, एक महारास से रसाप्लावित हो उठता है यह संसार। यहाँ न मृत्यु रह जाती है, न जन्म रह जाता है, न पुण्य और न पाप, न सुख और न दुःख ! किसकी मृत्यु होगी यहाँ ! कौन दुःखी होगा यहाँ ! किसका पुण्य और किसका पाप ! किसका शोक और किसका ताप ! आत्मा तो निर्विकार है, शाश्वत है, अनन्त है।

इस आत्मज्ञान के बिना संसार में जो कुछ है वह व्यर्थ है, निःसार है, शून्य है, दुःखद है।

इस आत्म ज्ञान से संसार हमारी ही चेतना का चिन्मय प्रसार है और शरीर ब्रह्मपुर है और सब कुछ ब्रह्ममय है अतः आनन्दमय है। इस आत्मज्ञान से सबकी आँखों में हमारा ही आलोक, सबके अधरों पर हमारी ही मुस्कान, सबके कंठों से हमारा ही मधुगान और सबकी धमनियों में हमारी ही धड़कन तरलायित होती दीखती है।

इस आत्मज्ञान से ही पत्तियों की मर्मराहट में एक अनहद संगीत, वायु की सनसनाहट में ब्रह्म-वेणु की एक मीठी तान, और पक्षियों के कलरव में एक अनादि डमरू का डिम-डिम नाद सुनाई पड़ता है।

सचमुच, आत्मज्ञान के बिना न हम अपने को न संसार को जान पाते हैं, न अपने जीवन का और न इस जगत का ही अमल मधुरस पान कर पाते हैं। इसी से किसी ने कहा है—

विद्या बल धन रूप यश कुल सुत वनिता मान।
सभी सुलभ संसार में दुर्लभ आतम ज्ञान॥

लेकिन यह 'आतम ज्ञान' कितना भी दुर्लभ क्यों न हो, हमें उसे प्राप्त करने का शुद्ध संकल्प लेना ही होगा, दृढ़-व्रत धारण करना ही होगा। भगवान् श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जी महाराज से मेरी अनन्य प्राथना है कि वे इस आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए हमें उत्प्रेरित करें और इस आत्म-ज्ञान में हमें प्रतिष्ठित कराने की अहेतुकी कृपा करें। जय श्रीरामकृष्ण ! जय स्वामीजी महाराज !!

सैंडविच-साधना और मन की शान्ति

प्रस्तुति :—स्वामी अच्युतानन्द

एक दिन मैंने श्रीमत स्वामी वीरेश्वरनन्दजी महाराज से पूछा—"अच्छा महाराज, हमलोगों का मन विभिन्न कार्यों में लगे रहने के कारण स्थिर होने के समय चंचल हो उठता है। भगवान में इसको स्थिर रखने का उपाय क्या है ?" महाराज ने कहा—"सैंडविच खाया है ? वैसा ही अभ्यास करो। जिस प्रकार सैंडविच तैयार किया जाता है, वैसा ही अभ्यास करो। प्रातःकाल नींद से उठकर बिस्तर पर बैठकर ठाकुर से प्रार्थना करना—'हे ठाकुर, पूरे दिन भर मुझे अनेक कार्य करने होंगे, उनमें अच्छे-बुरे अनेक कार्य रहेंगे। किन्तु ठाकुर, तुम कृपाकर उन सारे कार्यों के बीच मुझे छोड़ मत जाना। तुम्हारी बातें जिससे मुझे याद रहें इसलिए तुम मेरा हाथ पकड़े रहना।'

"इस प्रार्थना से दिन का शुभारम्भ होगा। तदुपरान्त दिन भर अनेक कार्यों के बीच समय मिलने पर ही ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) की मुख-छवि का ध्यान अपने मन में करना होगा। बीच-बीच में उनके नाम का जप करना होगा। उनके निकट प्रार्थना करनी होगी। इस प्रकार पूरे दिन का कार्य शेष होने पर रात को सोने के समय हाथ-पाँव धोकर बिस्तरे पर बैठकर फिर ठाकुर के पास प्रार्थना करनी होगी।—'हे ठाकुर, दिनभर बहुत सारे कार्य हुए हैं—अच्छे-बुरे अनेक कार्य। अनेक कार्य तुम्हारे इच्छानुरूप नहीं हुए हैं। अब ये सारे अच्छे-बुरे कार्य कृपा कर ग्रहण करो। मैंने अपनी सारी भूलें त्रुटियाँ, दोष, गुण सब तुम्हारे चरणों में समर्पित कर दिये। कृपा कर तुम अपने चरणों में मुझे स्थान दो।'

"अब, यह जो प्रातःकालीन प्रार्थना है, यह हुई एक स्लाइस (टुकड़ा) पावरोटी, संध्या की प्रार्थना हुई एक और स्लाइस तथा प्रार्थना और सारे दिन के विभिन्न कार्य, और उनका मुख-स्मरण करना, यह हुई सैंडविच के बीच की सामग्री, और सुबह-शाम की प्रार्थना से दिन की चिंता को बन्द कर सैंडविच तैयार कर लो तथा सारे दिन के कार्य ठाकुर के चरणों में निवेदन कर दो। इस प्रकार मन में शान्ति लौट आयगी।

विवेकानन्द का मानवतावाद

—श्रीमत स्वामी अनन्यानन्दजी महाराज
अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम, मायावती, (हिमालय)

विश्व-इतिहास की इतिवृत्ति में पहली बार किसी संन्यासी के ध्यान का विषय ईश्वर नहीं, बल्कि मनुष्य था। आज से पच्चासी वर्षों से भी अधिक पहले यह अद्वितीय घटना 'भारतीय चट्टान के अंतिम छोर' पर घटित हुई।

वर्ष १८९२; दिसम्बर का महीना। मात्र तीस वर्षों का एक युवा संन्यासी—घुटा हुआ सिर, गेरुए वस्त्रों में आवृत। उसकी ओजस्वी आकृति एक राजकीय गरिमा से मंडित और उपस्थिति चुंबकीय एवं चित्ताकर्षक थी। एक हाथ में दंड और दूसरे में कमंडलु धारण किए, वह परिव्राजक संन्यासी अपनी लंबी तीर्थयात्रा के क्रम में प्रायद्वीप सदृश भारत के दक्षिणी छोर, कन्याकुमारी में पहुँचा। युवा संन्यासी की आँखों में एक अद्भुद् चमक थी और उसकी बुद्धि विशाल एवं विलक्षण थी।

विवेकानन्द शिला

वे युवा संन्यासी ही कालांतर में स्वामी विवेकानन्द के नाम से सर्वविदित हुए थे। यहाँ आए थे—बाल सुलभ उत्सुकता के साथ—भगवती माता के दर्शन के लिए। देवी कन्याकुमारी के पवित्र मंदिर में पहुँचकर उन्होंने जी भर पूजा की और कुमारी सनातनी की प्रतिमा के समक्ष दिव्य आनंदातिरेक से भर कर साष्टांग समर्पित हुए। पूजा समाप्त हुई और मंदिर से निकलते ही उनकी दृष्टि थोड़ी दूर समुद्र में—तीनों समुद्रों के संगम पर अवस्थित—एक चट्टान पर गयी जो महाद्वीप से अलग थी। उन्होंने तत्काल समुद्र में छलाँग लगायी और उत्ताल तरंगों को तैरते हुए सुरक्षित रूप से उस चट्टान पर पहुँच गए, जो अब प्रसिद्ध विवेकानन्द शिला हो गयी हैं। वहीं—उस स्मरणीय चट्टान पर—कृतज्ञ राष्ट्र द्वारा विवेकानन्द शिला स्मारक मंदिर का निर्माण हुआ है। यह निर्माण-यज्ञ विवेकानन्द शिला स्मारक समिति के निःस्वार्थ एवं अथक प्रयास से संपन्न हुआ है। भारत माता के इस सुप्रसिद्ध सुपुत्र द्वारा उसकी संततियों के लिए की गयी अविस्मरणीय सेवाओं के संदर्भ में कृतज्ञ भारत की विनम्र श्रद्धांजलि है यह!

कुशल सुधारक

स्वामी विवेकानन्द एक ऐसे संन्यासी थे जिन्हें ईश्वरीय संदेश प्रदान करने के साथ-ही-साथ मानव-धर्म के महत् आदर्श की प्रतिष्ठापना भी करनी थी। उक्त घटना के बाद की एक चिट्ठी में स्वामी जी ने उस शिलाखंड पर हुए अपने अनुभव को स्पष्ट किया। उन्होंने लिखा: "भारतीय शिलाखंड के अंतिम छोर पर बैठे हुए मुझे एक योजना सूझ गयी।" वहाँ स्वामी जी गहरे ध्यान में प्रविष्ट हो गये थे, जिसमें भारत का अतीत, वर्त्तमान और भविष्य स्वयं उनके समक्ष खुल गए। अतीत की उज्ज्वल गरिमामयता से देश के पतित और अवनत होने का मूल कारण उन्हें मालूम हो गया। प्रमाद, आलस्य और तमोगुणी जड़ता में डूबे हुए देश को जगाकर उठाने की आवश्यकता स्पष्ट हुई और यह भी उद्घाटित हुआ कि अपने स्वर्णिम भविष्य में भारत माता पुनः गरिमा की ऊँचाइयों को उपलब्ध करेगी। इस महत्, जीवन्त अनुभूति ने तत्काल ही एक सामान्य संन्यासी को एक विज्ञ, कुशल सुधारक में रूपांतरित कर दिया। और उनका शेष जीवन—मुश्किल से एक दशक और—अपनी प्रिय मातृभूमि के पुनर्जीवन के हेतु बिताए हुए प्रेमभावित श्रम की—अनवच्छिन्न, अथक श्रम की—एक शीर्ष गाथा है। और यह संजीवनी जो देश में संचरित हुई, भारत की प्रतिभा एवं परम्परा के अनुकूल थी।

विवेकानन्द एक क्रांतद्रष्टा थे—काल्पनिक और अव्यावहारिक अर्थ में नहीं, बल्कि वस्तुतः इस अर्थ में कि वे समय से पूर्व ही अनागत घटनाओं को देख सकते थे। अपनी मातृभूमि के लिए उन्हें तीव्र एवं प्रगाढ़ प्रेम था। भारत माता उनके लिए, भगिनी निवेदिता के शब्दों में—

श्रद्धा-उपासना के योग्य देवी, राजमहिषी थी। इस तरह उन्हें ठीक ही 'आधुनिक भारत' का 'राष्ट्रभक्त संन्यासी' कहा गया है। कुछ वर्ष पहले पंडित नेहरू ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया था कि 'प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से विवेकानन्द ने आज के भारत को गहराई से प्रभावित किया है।"

युग-नाड़ी की परख

विवेकानन्द के विश्लेषण न तो किन्हीं काल्पनिक सिद्धांतों और न किसी शास्त्रीय परिसंवाद की उपज थे। परिव्राजक संन्यासी के रूप में छः वर्षों की सुदीर्घ अवधि में उन्होंने स्वयं सारे देश की—पूरब से पच्छिम एवं उत्तर से दक्षिण तक की—यात्रा, अधिकतर पदयात्रा के रूप में, की थी और जहाँ-जहाँ गये, सीधे जनसंपर्क में ही रहे। इस यात्रा में उन्हें देश वासियों को नजदीक से जानने का अवसर मिला और ज्ञात हुआ कि धर्म की बातों में उनकी जितनी निर्विवाद श्रद्धा है—प्रश्नरहित विश्वास है—उतनी ही संसार के भौतिक गुणों एवं विकास में उनकी अरुचि भी है, जिससे वे घोर अज्ञान एवं दरिद्रता से ग्रस्त हैं। शुभेच्छा से उत्कठित चिकित्सक की तरह जो रोगी की नाड़ी-परीक्षा करके रोग-मुक्ति के लिए दवाएँ बना देता है, उन्होंने भी राष्ट्र के सबल एवं दुर्बल दोनों ही पक्षों को जानकर खुले और स्पष्ट शब्दों में इसकी चर्चा अपने लोगों के बीच की। इस क्रम में अपने कितने ही व्याख्यानों में जो-कुछ उन्होंने कहा, उसे 'भारत में स्वामी विवेकानन्द' नाम की पुस्तक में सुरक्षित किया गया है। इन व्याख्यानों में वे निर्ममतापूर्वक देश-वासियों में सांसारिक विवेक के अभाव की भर्त्सना करते हैं तथा उनकी कथनी और करनी के विरोध को उजागर करते हैं। इन व्याख्यानों में देश के पतन के कारणों की पारदर्शक मीमांसा मिलती है। साथ ही, सारे देश को व्यापक, राष्ट्रीय स्तर पर पुनर्जागृत एवं नवनिर्मित करने की योजना एवं उनके कार्यक्रम भी इनमें प्रस्तुत होते हैं। १८९७ ई० में पश्चिम से विजयी होकर लौटने के बाद, मद्रास महानगर में दिये गये उनके छः व्याख्यान इस संदर्भ में विशेष सूचनाप्रद, ज्ञानवर्द्धक एवं उपयोगी हैं।

भारत की जीवनी-शक्ति

परिव्राजक के रूप में भ्रमण करने के दिनों में अपने देशवासियों में स्वामी जी ने वस्तुतः क्या देखा? एक ओर उन्होंने घोर दरिद्रता देखी, जो देशवासियों के शरीर और उनके भौतिक जीवन को नितांत विपन्न कर रही थी—चारों ओर लाखों लोगों को ग्रसित किये हुई उत्पीड़क गरीबी और विपन्नता देखी। फिर भी, यह अत्यंत संतोष एवं आश्चर्य की बात थी कि वे लोग अपने धार्मिक मान्यताओं तथा आस्थाओं में दृढ़ थे। अर्थात् इतनी विपन्नता के होते हुए भी वे अपने धर्म को पूरी शक्ति से पकड़े हुए थे। इस तथ्य के अनुभव के आधार पर ही स्वामीजी ने बार-बार राष्ट्र के समक्ष घोषित किया कि धर्म ही भारत का मेरु-दण्ड है। उनकी अविस्मरणीय घोषणा है कि अध्यात्मिकता ही भारत के राष्ट्रीय जीवन एवं संस्कृति का आधार है—यही राष्ट्र की मूलभूत जीवनी-शक्ति है, उसका प्रधान स्वर है, मुख्य राग एवं केन्द्रस्थ लय है। धर्म एवं आध्यात्मिकता के बिना भारत एक दिन के लिए भी नहीं टिक सकता। भारत में दिये गये स्वामीजी के व्याख्यानों का यही मुख्य विषय था—यही उनका सार-संदेश था।

धर्म एवं विज्ञान का समन्वय

विवेकानन्द का विश्वास था कि अपने भौतिक विकास के हेतु भारत के लिए धर्म का त्याग करके किसी दूसरी वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा करना अत्यधिक मँहगा पड़ेगा और दुःखद होगा। वस्तुतः उस प्राथमिक निर्माण की वेला में—आज से प्रायः अस्सी वर्ष पूर्व ही,—वे यह घोषणा करनेवालों में पुरोधा थे कि भौतिक विकास एवं समृद्धि के लिए भारत में आधुनिक विज्ञान एवं तकनीक के अपनाये जाने की अनिवार्य आवश्यकता है। स्वामीजी विज्ञान और आध्यात्मिकता के सहयोग और ताल-मेल के समर्थक थे और उनके समन्वय पर जोर देते थे। उनके अनुसार विज्ञान को अध्यात्म का पूरक या सहयोगी होना चाहिए—न कि उसे हटाकर उसका स्थानापन्न होना चाहिए। पश्चिम की भौतिक सभ्यता में फलित होनेवाली सुख-सुविधा के सभी उपहारों को वे पसंद करते थे—उसकी आर्थिक व्यवस्था की प्रणाली जिससे भारत के लाखों लोगों

का जीवन-स्तर उठ सके, उसका विज्ञान एवं तकनीकी ज्ञान जिससे देश का औद्योगिक विकास हो सके, और उसकी सामाजिक-राजनैतिक संगठन-प्रणाली का विकास हो और यहाँ के लोगों का भौतिक कल्याण सुरक्षित हो। किंतु यह ध्यान रखने की बात है कि वे इन भौतिक उपलब्धियों एवं सुख-सुविधाओं को धर्म के रूप में उपलब्ध अपनी मूल्यवान राष्ट्रीय निधि या विरासत को छोड़कर, उसके बदले में नहीं चाहते थे। वे कहते हैं : "यह विकास धीरे-धीरे होगा है : अपने धर्म पर ध्यान रखे हुए, उसे धारण किये हुए समाज को धीरे-धीरे विकास के लिए स्वाधीनता प्रदान करना है। क्या तुम भारत के धर्म को धारण किये हुए, उनके साथ-साथ ही, यूरोपीय समाज का निर्माण कर सकते हो ? मेरा विश्वास है कि यह संभव है और इसे घटित होना ही चाहिए।"

जब विवेकानन्द अपने धर्म या भारत के निज-धर्म की बात कहते हैं तो उनका संकेत उन अंध-विश्वास के विचारों की ओर नहीं है, जो हमलोगों के बीच सर्वत्र व्याप्त हैं। निश्चय ही, यह वह संकीर्ण धर्मबद्धता नहीं है, जिसे हम रसोईघर या खाने-पीने के बर्तनों की अतिशुद्धि तक ही सीमित पाते है, और जिसका वे स्वयं ही ऊर्ज्जस्वित स्वरों में विरोध करते थे। वस्तुतः स्वामीजी का संकेत उस शुद्ध एवं शक्ति-स्पंदी धर्म की ओर है, जो हमारे पवित्र धर्मग्रन्थों में उपलब्ध है। वे स्वयं बताते हैं : "उपनिषदों के सत्य तुम्हारे सामने हैं। उन्हें ग्रहण करो, धारण करो। इन सत्यों के अनुसार अपना जीवन-निर्माण करो, तब भारत का उद्धार शीघ्र ही हो जायगा।"

विवेकानन्द इस बात में दृढ़ विश्वास था कि भारत का भविष्य उसके अतीत से कहीं अधिक स्वर्णिम और महिमावान होगा। उन्होंने कहा था : "तुम स्वयं आध्यात्मिकता में विश्वास करो या न करो, राष्ट्रीय जीवन के हित में तुम्हें इसे पकड़ना और अपनाना ही होगा। तब तुम अपने दूसरे हाथ को बाहर फैलाकर दूसरी जातियों एवं राष्ट्रीय समुदायों से जो भी ग्रहण कर सकते हो, उसे प्राप्त करो, किंतु यह सब राष्ट्रीय जीवन के उस एकमात्र आदर्श को अपनाये हुए ही होना चाहिए। और तब—इस साधन-प्रक्रिया से एक अद्भुत, आश्चर्यजनक एवं महिमामंडित भविष्य का भारत निकलेगा। मुझे विश्वास है वह आ ही रहा है—अतीत के सभी युगों से कहीं अधिक महत्तर, महिमान्वित भारत !"

आमूलचूल सुधार

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार अपनी वर्तमान स्थिति के लिए हम स्वयं दोषी हैं। पहले तो हमने अपनी अति-प्राचीन विरासत की ही उपेक्षा की। हमारे प्राचीन धर्म-ग्रंथों के महान् शीर्ष-सत्य कुछ चुने हुए लोगों के हाथों में सिमट गये। जातिवाद की ऐसी सीमा रेखाएँ बनीं, इस प्रकार के बंध अवरोध हुए, जैसा संसार में कहीं नहीं सुना गया। एक ऐसी संकीर्ण जीवन-दृष्टि सारे राष्ट्र में व्याप गयी जिससे हम-एक दूसरे से कटकर न केवल परिच्छिन्नता में आबद्ध हुए, बल्कि हमारा अधःपतन भी खूब हुआ। यही परिणाम हुआ उस संकीर्ण जीवन-दृष्टि का—उस संकीर्ण भेद-दृष्टि का—जिसके अनुसार हम अपने को दूसरे से अधिक पवित्र समझने लगे थे। उपनिषदों में प्रतिपादित धर्म की शुद्ध प्रवाह-धारा—जो आत्मा की सनातन पूर्णता का प्रणयन करती है—विकृत और प्रदूषित होकर संकीर्ण दुर्गन्धपूर्ण अंधी मान्यताओं एवं जड़, औपचारिक आचरण-विधानों के गंदे चहबच्चों और नाबदानों की तरह विकृत होकर रह गयी। सारे जन समूह पर वर्ग-विशेष का क्रूर, अधम वर्चस्व स्थापित हो गया। और अन्ततः, हमारी नारियों की घोर उपेक्षा और अवमानना हुई। जिनकी पूजा-आराधना होनी चाहिए, उन्हें जीवन का बोझ ढोनेवाले भारवाही पशु के तुल्य बना दिया गया। ये ही वे निष्कर्ष हैं जिन पर स्वामीजी पहुँचे थे, जब वे हमारे समाज में आमूलचूल सुधार करने के लिए कटिबद्ध हुए थे।

भारत के पुनर्निर्माण के हेतु स्वामीजी के कार्यक्रम में एक प्रमुख विषय था—जनसाधारण एवं महिलाओं का उन्नयन और उद्धार। इस संदर्भ में उन्होंने राष्ट्र की समस्या को इन शब्दों में परिभाषित किया : "भारत में दो बड़ी-बड़ी बुराइयाँ हैं—महिलाओं का पैरों के नीचे रौंदा जाना तथा गरीबों का जातिगत सीमाओं और बंधनों में कुचला जाना। स्वामीजी कहते हैं : "क्या तुम देश की नारियों की दशा सुधार सकते हो ?" "तब

तुम्हारे देश के कल्याण की आशा है।" यह खुशी की बात है कि विगत कुछ दशकों में राष्ट्रीय जीवन में महान् परिवर्तन हुए हैं। महिलाएँ प्रगति के पथ पर चल पड़ी हैं, और राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने पुरुष-समतुल्य से होड़ लेने के लिए आगे आ रही हैं।

अद्वितीय पथ- प्रदर्शक

फिर भी, नयी पीढ़ी के उस युवा वर्ग की स्थिति हमारे नेताओं को चिंतित बना देती है, जो आनेवाले कल के नागरिक होने जा रहे हैं। उनमें कोई दोष तो नहीं है। सिर्फ, उनकी दिशा गलत है। उन्हें उचित सुधार की प्रेरणा नहीं मिली है, जिससे वे सही राह पर रखे जा सकें। युवा-वर्ग अत्यन्त आदर्शवादी है: उसे उचित पथ-प्रदर्शन और दिशा-निर्देशन की आवश्यकता है। अगर वे गलत दिशा में चलते हैं तो इसके लिए उनके अग्रज जिम्मेवार है; और वे ही इस दोष के भागी हैं। अगर हमारे देश के युवा-वर्ग में अपनी पवित्र-प्राचीन आध्यात्मिक विरासत के प्रति समुचित समादार का भाव नहीं है तो इसके लिए भी अग्रज लोग ही दोषी हैं। उन्होंने युवा-वर्ग को अपनी आध्यात्मिक विरासत का वास्तविक महत्त्व नहीं बताया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वे विचारों और आदर्शों के लिए भारत के बाहर देखने लगे हैं, जिससे हमारे राष्ट्रीय जीवन की आधारभूमि या नींव ही नष्ट-विनष्ट हो रही है। अब समय आ गया है कि हम भटकाव और अवनति की इस प्रक्रिया के अंत की घोषणा करें और इस दुर्गति की राह में ऐसा परिवर्तन लाएँ कि राष्ट्र की भूमिमें ही उच्चतम भारतीय आदर्शों की साधना हो सके। देश के युवकों के लिए इस 'राष्ट्र भक्त संन्यासी' से बढ़कर कर कौन दूसरा मार्गदर्शक हो सकता है, जिसने आठ दशकों से भी पूर्व समस्त विश्व को तूफानी प्रवेग से अपने प्रभाव-वृत्त में समेट लिया था? देश के लिए उनके हृदय में जो आग दहकती रहती थी, उससे युवा-पीढ़ी के हृदय में भी आदर्शवाद की अग्नि प्रज्ज्वलित हो सकती है, जिससे वे मातृभूमि की सेवा के लिए उपयोगी नर-नारियों के रूप में प्रस्तुत हो सकें। स्वामी विवेकानन्द देश के युवा-वर्ग से मातृभूमि के प्रति प्रेम और उसकी सेवा से अधिक या कम की आशा या अपेक्षा नहीं रखते थे।

अतीत के प्रति गौरव

भारतीय महाद्वीप में घटित हाल की घटनाओं ने राष्ट्र के हृदय में आत्म-विश्वास का संचार किया है। हमलोगों ने आत्म विश्वास एवं आत्मनिर्भरता के शब्दों में सोचना और बोलना प्रारम्भ कर दिया है। भारत अब अपना सिर ऊँचा किए हुए सीधा स्थित है, अपने पाँवों पर, थोड़ा-बहुत स्वाभिमान पूर्वक भी। यह देश भविष्य में महत्तर सफलता तथा महिमा को प्राप्त कर सकता है, अगर यह स्वामीजी की चेतावनी पर ध्यान दे, और अपने महिमामय, परम मूल्यवान विरासत पर वैसा ही स्वाभिमान अनुभव करे जैसा स्वामीजी करते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा था: "संसार में उत्पन्न हुए अतिगौरवान्वित लोगों में से मैं एक हूँ, किंतु यह भी स्पष्ट कर दूँ कि यह गौरव अपने आप पर नहीं, बल्कि अपने पूर्वजों की परम्परा पर है। जितना मैंने अतीत का अध्ययन किया, उतना ही अधिक उसके प्रति मुझमें गौरव का भाव आया, और उतना ही अधिक उसकी महिमा के बल पर अपने में स्वाभिमान का संचार हुआ। और इसी ने मुझे यह बल और विश्वास गर्भित साहस प्रदान किया, मुझे धरती की धूल-गर्दिश से ऊपर उठाया, और मुझे उस महान योजना को कार्यान्वित करने में नियोजित किया है, जिसे हमारे महान पूर्वजों ने सुचिंतित और प्रतिपादित करके हमारे लिए समग्र योजना की रूपरेखा रख छोड़ी थी।"

वास्तविक समाजवाद

आज के माहौल में समाजवाद की बहुत अधिक चर्चा है। किंतु हमारे समाजवादी नेताओं के उद्भव या समाजवादी चिन्तन के उदय होने के बहुत पूर्व ही,स्वामी विवेकानन्द ने घोषणा की थी: "मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि मेरी दृष्टि में यह कोई पूर्ण व्यवस्था है, बल्कि इसलिए कि आधी रोटी भी, रोटी के पूर्ण अभाव से अच्छी है। दूसरी व्यवस्थाओं का प्रयोग हुआ है और उनमें कमी पायी गयी है। अब हम इस व्यवस्था या प्रणाली का प्रयोग करें—और किसी उद्देश्य से नहीं तो इसलिए कि यह एक नव-विधान है। दुःख-सुख का एक पुनर्विभाजन आवश्यक है, इसकी अपेक्षा कि एक ही तरह के लोग इसके भागी बने रहें।"

राष्ट्रवासियों और देश की भावी पीढ़ियों को झकझोरते हुए स्वामीजी कहते हैं : "ओ प्राचीन आर्यों की संतान ! भगवान् के अनुग्रह से तुममें भी अपने पूर्वजों का गौरव और उनके जैसा ही विश्वास आ जाय, तुम्हारे रक्त में भी वही श्रद्धा-विश्वास भर जाय और तुम्हारे जीवन का अभिन्न अंग हो जाय ! और यह विश्वास समग्र विश्व को मुक्त करने की दिशा में क्रियाशील हो। हमारे यहाँ वह संजीवनी प्रदान करनेवाला जल उपलब्ध है जिससे भौतिकवादिता की जलती हुई अग्नि को शांत किया जा सके—वह अग्नि जो अन्य देशों के लाखों लोगों के हृदय-केन्द्रों को झुलसा रही है।"

जीव ही शिव है

अगर एक शब्द में कहा जाय तो विवेकानन्द का धर्म मानवतावाद है—एक ईश्वरीय मानवतावाद—जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य में भगवान् को देखते हुए सब प्रकार से उसकी सेवा की जाती है। 'जीव ही शिव है'—यही उन्होंने अपने गुरुदेव, श्री रामकृष्णदेव, के चरणों में सीखा। उनकी दृष्टि में मानव की सेवा ही ईश्वर की पूजा है—मानव-सेवा, सर्वत्र, चाहे वह किसी जाति, मान्यता या समुदाय का क्यों न हो ! अत्यन्त ही भावगर्भित शब्दों में उन्होंने अपनी इस मानवतावादी उपासना के अद्वितीय महाउत्साह को अभिव्यक्त किया है : "मैं बार-बार जन्म लूँ और हजारों विपदाओं को सहन करूँ ताकि उस एकमात्र ईश्वर की पूजा कर सकूँ जिसका अस्तित्व है, एकमेव ईश्वर की, जिसमें मेरा विश्वास है—जो सभी जीवात्माओं का सार-समुच्चय है ! और, सबसे अधिक, मेरी पूजा के पूज्य हैं दुष्ट जीवों में गुप्त परमेश्वर एवं संसार की सभी जातियों और प्राणियों के दीन-हीन दरिद्र असहायों में प्रच्छन्न ईश्वर।"

अपनी मातृभूमि के संबंध में स्वामीजी की घोषणा थी : "आगामी पचास वर्षों के लिए यही एकमात्र हमलोगों का मूल स्वर होगा—यही, हमलोगों की महनीय मातृभूमि ! इस अवधि में हमारे मनों से व्यर्थ के देवगण विलीन हो जायँ। यही एकमात्र जीवित ईश्वर है, हमारी अपनी ही जाति—'सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं, सर्वत्र उसके कान हैं और वह सर्वत्र परिव्याप्त है।" अन्य सभी देवता सोये हैं। हमलोग किन व्यर्थ देवताओं के पीछे जायेंगे और इस विराट की पूजा न करेंगे जिसे अपने चारो ओर देखते हैं। जब हम इस विराट की पूजा कर लेंगे तो हम अन्य सभी देवताओं की पूजा करने के योग्य हो जायेंगे।"

प्रबुद्ध भारत

आज से आठ दशकों से भी पूर्व इस देशभक्त संन्यासी ने जाग्रत एवं स्पंदित ग्रामीण भारत का स्वप्न देखा था और इन चिर-स्मरणीय शब्दों में अपने हार्दिक उद्गार व्यक्त किए थे "जगने, उठने दो नवीन भारत को, किसानों की झोपड़ियों से, हल की मूठ पकड़े हुए ! मछुओं, मछेरों, मोचियों और मेहतरों की कुटियों से उठकर आने दो ग्रामीण भारत को। जगने दो उसे पंसारियों की दूकानों से और काँच की टिकिया बेचनेवालों के चूल्हों की बगल से ! आवाहन करो नये भारत के पौधों की झुरमुटों से, जंगलों से ! उन्मेषित होने दो उसे पहाड़ियों और पहाड़ों में। जगने दो सब ओर, सभी दिशाओं से नवीन भारत को।"

विवेकानन्द का "कम्प्लीट वर्क्स" १. अँग्रेजी में आठ खंडों में उपलब्ध है, और भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है। भारत के प्रत्येक लड़के और लड़की को, नर-नारी को, उन्हें पढ़ना चाहिए ताकि वे अपने राष्ट्रवासी भाइयों की सेवा के लिए प्रबुद्ध और प्रेरित होकर समर्पित जीवन जी सकें। प्रबोधन एवं प्रेरणा प्रदान करने के लिए स्वामी जी का नारा था : "उठो ! जगो ! और लक्ष्य प्राप्त होने तक बढ़ते रहो !"

अनुवादक : शितिकंठ बोधिसत्त्व

(लेखक की अनुमति से—'युवा भारती', सितम्बर' ७८ के अंक से साभार)

---

१. हिन्दी में "विवेकानन्द साहित्य" के नाम से यह ग्रंथ दस खंडों में प्रकाशित है।

युवा वर्ग को परामर्श *

—श्रीमती इन्दिरा गाँधी

मान्यवर स्वामी रंगनाथानन्द जी, विशिष्ट अतिथिगण और युवा मित्रो,

मुझसे ऐसे विषय पर बोलने के लिए अनुरोध किया गया है जिसके विद्वान यहाँ मौजूद हैं। स्वामी रंगनाथानन्दजी ने अभी श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों और महानता के विषय में बहुत कुछ आपको बताया है और यह भी बताया है कि उनका भारत पर ही नहीं बल्कि संसार के अन्य भागों पर कितना प्रभाव पड़ा है। उन्होंने बर्लिन के एक छोटे से स्थान के बारे में संक्षिप्त में अपने संस्मरण भी सुनाए हैं, लेकिन उन्हें भारी जन समुदाय और सारे संसार के और इससे मिलते-जुलते उत्साह के बारे में और भी व्यापक अनुभव हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने, जिनका देहान्त अब से करीब १०० वर्ष (वस्तुतः ८० वर्ष—सं०) पहले हुआ था, पश्चिमी जगत में चेतना का संचार किया था जिसके मस्तिष्क के दरवाजे बंद हो गए थे। उन्होंने उनको भारतीय जीवन का सार बताया। उन्होंने सेवा और बलिदान का पाठ पढ़ाया, लेकिन सबसे बढ़कर उन्होंने भारत की महानता से उन्हें परिचित कराया जिसके ऊपर हम सब गर्व कर सकते हैं।

जैसा कि मैं अक्सर कहती हूँ कि मानव के नाते हमें जो कुछ करना चहिए उसमें हम असफल रहे हैं। जो कुछ हम करते हैं, उसमें दोष हैं। अपने दृष्टिकोण को हम छोटा करना चाहते हैं, खास तौर से हम कुछ तो जरूर पूर्णता की ओर बढ़ने की कोशिश करते हैं, पर हम उससे अभी काफी दूर हैं। लेकिन यह बड़े महत्व की बात है कि भारत में हमारे आदर्श अभी भी वैसे ही हैं और यह आदर्श, यह ज्ञान की ज्योति हमें हमारे अतीत से प्राप्त हुई है, जिसने हमारे अध्यात्म को, हमारी आत्मा को ज्योतिर्मय किया और हमें स्वामी विवेकानन्द जैसी विभूतियाँ प्रदान की। बाद में गाँधी जी भी उसी परम्परा की देन थे। हमारे इस देश के ऋषि-मुनि हमारे आदर्श हैं और भारत का भविष्य उज्ज्वल है। लेकिन इसका दायित्व अकेले सरकार के ऊपर नहीं है बल्कि हमारे आदरणीय विद्वानों और धार्मिक नेताओं पर भी इसका भार है। दूसरे लोगों का भी दायित्व है, लेकिन मूल रूप से यह दायित्व हमारे युवा वर्ग का है चाहे वे लड़के हैं चाहे लड़कियाँ। यह हमारे भविष्य के कर्णधार हैं। मैं इस शुरुआत का स्वागत करती हूँ कि आपने इस तरह का संगठन बनाया। आपके मस्तिष्क में चेतना आयी और आप शाश्वत सत्य की खोज में प्रयत्नशील हैं।

कभी-कभी मुझसे पूछा जाता है कि क्या मैं धर्म परायण हूँ, तो इसका उत्तर देना मेरे लिए कठिन हो जाता है। मेरा उत्तर है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि आप धर्म का क्या अर्थ करते हैं। अगर आप कर्मकाण्ड और कुछ महात्माओं की बात को बार-बार दोहराना ही धर्म समझते हैं तो इस दृष्टि से शायद मैं धर्मपरायण नहीं हूँ। लेकिन मैं समझती हूँ कि सच्चा धर्म सत्य की खोज है। धर्म यही है कि हम अपनी अन्तरात्मा टटोलकर यह देखें कि क्या उचित है और उसे बेहतर बनाने की कोशिश करें। स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा के बारे में कहना है कि इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई व्यक्ति कितना जानता है, बल्कि शिक्षा वह है कि कोई क्या बनना चाहता है और कोई क्या है? इसको प्राप्त करना ही शिक्षा है।

भारत में उत्पन्न महान आत्मा श्रीरामकृष्ण परमहंस कोई पढ़े-लिखे व्यक्ति नहीं थे लेकिन इसके बावजूद

---

* रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली में रामकृष्ण विवेकानन्द युवा सम्मेलन में ११ सितम्बर, १९८२ को प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी का समापन भाषण।

उनमें गहरा ज्ञान था। क्योंकि उन्होंने शाश्वत सत्य को गहनता से देखा था। सत्यान्वेषण के बाद जो भी उनसे मिलने गया उसे इसका स्पष्ट आभास हुआ था। इस गोष्ठी में शायद आपने सुना होगा कि जब स्वामी विवेकानन्द उनसे पहली बार मिलने गए तो वह रामकृष्ण परमहंस का उपहास करना चाहते थे। उन्हें उनमें विश्वास नहीं था। लेकिन उन्होंने न केवल उन्हें समझा बल्कि उनके उपदेशों का प्रचार भी किया। उन्होंने न केवल रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों का पालन किया बल्कि उन्हें अपना लिया। उन्होंने इनके पीछे अपनी आत्मा, अपना हृदय और अपनी शक्ति सब कुछ लगा दिया। जैसा कि आपने सुना होगा उनमें आश्चर्यजनक शक्ति थी।

आत्म अवलोकन

हम युवा वर्ग से यही चाहते हैं और यही हमारे दर्शन शास्त्र का सन्देश है कि हम आँखें बंद करके या कान बंद करके हर चीज पर विश्वास न करें बल्कि सत्य का स्वयं अन्वेषण करें।

हम स्वयं संपूर्ण नहीं है। हम में से हरेक के अलग-अलग गुण हैं और अलग-अलग दोष हैं। चुनौती इस बात की नहीं है कि हम अपने दोषों को त्याग दें बल्कि देखना यह है कि हम उनसे किस प्रकार लाभ उठा सकते है। स्वामीजी शक्ति के विषय में कहा करते थे कि शक्ति का किस प्रकार विनाश किया जाता है। वह किस प्रकार बरबाद की जाती है और किस प्रकार उसी शक्ति का सदुपयोग करके मानव जाति और विश्व का कल्याण करने में सहायता ली जा सकती है। मैं सोचती हूँ यही बात हमारे अन्दर निहित सभी शक्तियों के बारे में हैं। अपने आप में कुछ भी न तो अच्छा है न बुरा। यह इस पर निर्भर करता है कि हम उसे किस प्रकार लेते हैं। संसार में परिवर्तन लाने के लिए, मानवता में परिवर्तन लाने के लिए विज्ञान में आश्चर्यजनक शक्ति है। पर साथ ही यह विनाश का एक भीषण साधन बन सकती है और आज दुर्भाग्य से हर स्थान पर बैठे शक्तिशाली लोग शायद इसके सदुपयोग की बजाय इसके दुरुपयोग की ही कोशिश कर रहे हैं।

यह युवा वर्ग का ही काम है कि वह हर कदम को सोच-सोच कर रखे। वह बेहतर रास्ते पर जाना चाहता है या फिर बुरे मार्ग पर। कभी-कभी सरल मार्ग श्रेष्ठ मार्ग नहीं हुआ करता और तभी आपको संघर्ष के लिए तैयार होना पड़ता है और मैं समझती हूँ कि इसलिए स्वामी विवेकानन्द ने भी संघर्ष पर इतना बल दिया है। संघर्ष से आप अपने आप को सुदृढ़ बना सकते हैं। आपको सिर्फ बुराइयों से ही नहीं लड़ना है, संघर्ष का अर्थ है ऐसे कार्य जो आपको शक्ति दें। आप यदि अपनी मांसपेशियों का प्रयोग नहीं करते हैं तो कुछ समय बाद वह निष्क्रिय हो जायेंगी। यदि आप बिस्तर पर लेटे रहते हैं चाहे आप बीमार भी नहीं हैं तो आपको पता चलेगा कि एक महीने के बाद आप के लिए चलना तक मुश्किल हो जायेगा। केवल पेशियों को हरकत में लाने से ही चाहे वह शारीरिक शिरायें हैं या मानसिक शिरायें हैं आपका शरीर और मस्तिष्क विकसित हो सकता है। शक्ति से ही अधिक शक्ति उत्पन्न होती है और इसी तरह एक समाज आगे बढ़ सकता है।

स्वामी जी ने भी अन्ध-विश्वास के विषय में कहा है। मैं भी उनमें से एक हूँ जो इसके विरुद्ध हूँ और मैं अभी भी अन्धविश्वास के सख्त खिलाफ हूँ लेकिन मैंने यह महसूस किया कि वह बहुत सी बातें जिन्हें अन्धविश्वास कहा जाता है वे किन्हीं अच्छे कारणों से शुरू हुईं। हो सकता है कि अब वे कारण न रहे हों और अब उन परम्पराओं की लीक पीटे जाना बेकार है। किसी सीढ़ी के नीचे होकर गुजरना अपकुशन क्यों समझा जाता है? इसका कारण यह हो सकता है कि जब कोई सीढ़ी सड़क पर लगी है तो इसका अर्थ है कि कोई व्यक्ति दीवार को पोत रहा है। इस तरह यदि आप इसके नीचे से होकर निकलेंगे तो आपके ऊपर रंग की छींटें गिर सकती हैं। पश्चिमी देशों में कमरे के अन्दर छाता खोलना अपकुशन माना जाता है। जब विक्टोरिया के समय में यह अन्ध-विश्वास शुरू हुआ तो कमरे सामान से किच पिच भरे रहते होंगे और वहाँ घूमने-फिरने के लिए एक इन्च जगह भी नहीं बचती होगी तो ऐसे कमरे में यदि कोई छाता खोलेगा तो इसका मतलब हुआ कि कुछ चीजें उसके ऊपर

गिरेंगी और टूट जायेंगी। इस तरह इन अधिकांश अन्ध-विश्वासों के पीछे कोई-न-कोई कारण रहा होगा जब ये शुरू किये गये होंगे लेकिन बाद में वे कारण समाप्त हो गये।

और बहुत सी चीजें जिन्हें अन्धविश्वास माना जाता है शायद ऐसी नहीं है। मिसाल के तौर पर दादी मां या नानी मां के इलाज की बात लें। आजकल पश्चिमी देशों में बनी दवाइयों से भी इस बात का पता चल रहा है कि ज्यादा प्रभावकारी दवाइयाँ वही हैं जो जड़ी-बूटियों से बनी हैं। इस तरह हर मामले में हम यह नहीं कह सकते कि यह सही है या यह गलत। हमें इस पर परिस्थितियों के अनुसार और अपने दैनिक जीवन के सन्दर्भ में स्वयं विचार करना होगा।

भारतीय विरासत

दरअसल यह बात शाश्वत सत्य के बारे में लागू नहीं होती और हम सौभाग्यशाली हैं कि हमारे इस देश में एक अविकल परम्परा है और इस शाश्वत सत्य का प्रकाश हमारे सामने होता है। जैसा कि स्वामीजी ने उचित ही कहा है कि हिन्दू शब्द का अर्थ है भारतीय। सचमुच उस समय भारत ऐसा भारत नहीं था जैसा कि आज समझा जाता है। उस समय जो कुछ था उसमें सभी लोगों को शामिल किया जाता था और बहुत समय तक यूरोप में भारत के सभी धर्मों को इसी रूप में देखा जाता था। मुझे याद है जब मैं ९३५ ई० या उसके आसपास यूरोप गयी तो वहाँ के लोगों ने मुसलमानों का जिक्र भी हिन्दुओं के रूप में किया। वह कहा करते थे आप हिन्दू है। आप कौन से हिन्दू है, क्या आप इस्लाम का पालन करते हैं या वेदान्त अथवा किसी और धर्म का। ऐसी बात थी क्योंकि हिन्दू का अर्थ वह समझते थे भारतीय।

मानवता तरह-तरह के अर्थ निकालती है। स्वामी विवेकानन्द ने आदमी की बात कही। "आदमी द्वारा तैयार शिक्षा।" मिसाल के तौर पर इस समय आदमी का अर्थ है पुरुष, महिलाएँ नहीं। इसका अर्थ हुआ आज हमारी मानवता से जो तात्पर्य है यह वही है। लेकिन बाद में अंग्रेजी भाषा में यह शब्द संकुचित से संकुचित होता गया और आज इसका अर्थ है पुरुष। इसमें महिलाएँ शामिल नहीं हैं। यही कारण है कि सारे पश्चिम में एक आन्दोलन चल रहा है जिसमें मांग की गई है "या तो आप मानवता कहिए या आपको कोई ऐसा शब्द ढूंढना पड़ेगा जिससे महिलाएँ बाहर न हों।" दरअसल स्वामी जी ने महिलाओं को शामिल नहीं किया, उन्होंने उन्हें अलग भी नहीं किया। मैं यह मिसाल इसलिए दे रही हूँ कि लोग किस तरह शब्द और भाषाओं के अर्थ को संकुचित बनाने की कोशिश करते हैं।

बहुत वर्ष पहले, मेरे ख्याल से १९२० के बाद, जब मैं एक छोटी बच्ची थी हमारे एक राष्ट्रीय नेता डॉ० सैयद महमूद जर्मनी के एक विश्वविद्यालय में पढ़ रहे थे जो संसार के प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों में से एक था। एक जर्मन प्रोफेसर ने उन्हें विश्वविद्यालय के प्रांगण में रोककर गीता के विषय में कुछ सवाल पूछे। डा० महमूद भौचक्के रह गये और उन्होंने कहा—"मैं एक मुसलमान हूँ, मैंने गीता नहीं पढ़ी।" वह प्रोफेसर आश्चर्यचकित था। उसने कहा कि इससे क्या फर्क पड़ता है। मैं एक ईसाई हूँ, आप एक मुसलमान हो सकते हैं, यहूदी हो सकते हैं, आप कुछ भी हो सकते हैं, पर आपके पास गीता के रूप में आपके देश में एक खजाना है और आपने उसे नहीं पढ़ा। आप भारतीय कैसे कहला सकते हैं? आपको यह चीजें जाननी चाहिए। यह आपकी राष्ट्रीय धरोहर है। यह किसी धर्म विशेष की धरोहर नहीं। डा० महमूद के लिए यह एक नया अनुभव था। इस प्रकार पहले कभी उनसे किसी ने ऐसी बात नहीं की और न ही ऐसा सुझाव दिया, लेकिन इसके बाद उन्होंने गीता को पढ़ा। जैसा कि सभी धर्मों के बहुत से व्यक्ति दुनिया भर में इसे पढ़ रहे हैं।

शायद आप लोगों ने सुना होगा—शायद यह अच्छी मिसाल भी नहीं है—कि जब अमेरिका में पहला अणु विखंडित हुआ तो महान वैज्ञानिक रोबर्ट ओपनहाईमर ने जिनका इसके विखण्डन में हाथ था जब यह देखा कि इससे चमत्कृत प्रकाश निकल रहा है तो उन्होंने इसकी अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया वे उन्हें गीता में मिले; जब उन्होंने इस प्रकाश को सहस्र—सूर्य

की संज्ञा दी और उन्होंने गीता के ही कुछ और शब्दों के उद्धरण दिए। इस तरह यह एक राष्ट्रीय धरोहर है। इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें दूसरे के प्रति कोई अनादर का भाव या विचार है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम उन्हें हीन समझते हैं। इन सबको हमें अपनी साझी धरोहर समझना चाहिए और जैसा कि स्वामी जी ने कहा है कि हमारी शक्ति एकता में ही निहित है। अगर लोग आपस में ही लड़ते रहेंगे तो इससे न केवल व्यक्तिगत रूप से वह ही कमजोर होंगे बल्कि हम अपने आपको भी कमजोर बना रहे होंगे। यह तभी सम्भव है जब हम एक साथ मिलकर चलना सीखें और उस अनुशासन से आबद्ध रहें जो आवश्यक है।

आत्म-संस्कृति

मैं अक्सर नदियों का जिक्र करती हूँ। नदी क्या है? पानी ही तो है। लेकिन वह नदी बन जाती है और यह पानी फायदेमंद हो जाता है जबकि इसके दोनों ओर किनारे होते हैं, वरना तो पानी फैल जायेगा और इससे कोई लाभ नहीं। लेकिन जैसे दो किनारे हैं और नदी एक निश्चित दिशा में बढ़ती है तब इसका लाभ होता है तब इसकी उपयोगिता होती है। ये किनारे आत्म-अनुशासित होते हैं। अनुशासन बाहर से भी लागू किया जाता है लेकिन यह सच्चा अनुशासन नहीं। सच्चा अनुशासन वही है जो आपके मन मस्तिष्क में छाया होता है, जो आपके शरीर को नियन्त्रित करता है, जो आपकी अन्तर-आत्मा से पैदा होता है और जिसका उद्देश्य शुभ होता है। जिसमें संतुष्टि नहीं होती। मैं समझती हूँ कि स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों में सबसे महान् उपदेश यही था कि कभी भी संतुष्ट होकर न बैठ जाओ।

असन्तोष भी दो प्रकार का होता है। एक तो आपत्ति और शिकायत वाला जिससे आप बराबर झगड़ालू स्वभाव वाले बनते जाते हैं। इसका अर्थ है आप कमजोर हो जायेंगे और कुछ भी काम करने लायक नहीं रहेंगे या आप कह सकते हैं "ओहो यहाँ कुछ गलती रह गयी मैं इस में किस प्रकार सुधार कर सकता हूँ।" इसमें आपत्ति है। आप इसको मानते हैं लेकिन आप कुछ रचनात्मक काम करना चाहते हैं, विध्वंसात्मक नहीं और समाधान का यह बहुत सरल रास्ता है, दूसरों को समाधान में सहायता करने का यह एक आसान तरीका है। यदि आप इसे स्वयं ही हल कर सकते हैं तो यह और अच्छा है और आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि एक अकेला आदमी यदि दृढ़ निश्चय कर ले तो वह कितना बड़ा काम कर सकता है: स्वामी विवेकानन्द ने हमारे दर्शन की इतनी उत्कृष्ट व्याख्या की है और अब स्वामी रंगनाथानन्द और रामकृष्ण मिशन के ऐसे ही अन्य अनेकों स्वामी ऐसा ही कर रहे हैं और वह कहते हैं कि आत्म-बल को पहचानो यह सब से शक्तिशाली है। मानव की चेतना को जगाने की चेष्टा करें ताकि सम्पूर्ण मानवता का कल्याण हो।

लेकिन इसका कल्याण क्योंकर हो सकता है जब तक कि हम में से प्रत्येक में सद्भाव नहीं हो। हम "पर उपदेश कुशल बहुतेरे" में विश्वास रखते हैं लेकिन जब तक हम उस पर स्वयं आचरण नहीं करते दूसरे हमारी बात कैसे सुन सकते हैं। जब मैं बाहर जाती हूँ तो दूसरे लोगों से भारत के बारे में बहुत कुछ बातचीत करती हूँ। लेकिन मैं हर समय इस मामले में सचेत रहती हूँ कि अगर हम भारतीय सही आचरण नहीं कर सकते हैं तो हम अन्य लोगों से यह कैसे अपेक्षा कर सकते हैं कि वह हमारे दर्शन को महान दर्शन समझें। अपने महान आदर्शों का हम उन्हें कैसे विश्वास दिला सकते हैं! यदि आप ऐसे आदर्श में विश्वास रखते हैं तो आप उन पर आचरण क्यों नहीं करते? यदि हम उन पर आचारण की चेष्टा करें तो हम उनको कह सकते हैं कि हमारे पास आपको देने के लिए कुछ है।

मैं समझती हूँ हम संसार को बहुत कुछ सिखा सकते हैं। लेकिन मेरा विचार है कि हम भी दुनियाँ से बहुत कुछ सीख सकते हैं। आयु या पद की दृष्टि से कोई छोटा नहीं है। किसी के पास अन्य को सिखाने के लिए कुछ भी नहीं है और सचमुच मैं तथा कोई भी व्यक्ति चाहे कितना ही बड़ा हो उनमें भी कौन ऐसा है जिसे कुछ न कुछ सीखना न हो और हमारे महापुरुषों और विदुषियों की यही महानता रही कि वे सदा अपने जीवन के अनुभवों से सीखते रहे, उनसे सीखते रहे जिनसे वे मिले

और उनमें आत्म-ज्ञान का विकास हुआ। शिक्षा परीक्षाएँ पास करने से पूरी नहीं हो जाती। परीक्षाएँ पास करना ठीक है और परीक्षाओं में आपके लिए मैं शुभकामना देती हूँ लेकिन पूरा जीवन ही तो एक परीक्षा है। मुश्किल से ही कोई दिन गुजरता होगा जब आपको किसी चुनौती या परीक्षा का सामना न करना पड़ता होगा और कोई बात नहीं कि आपने वह परीक्षा उत्तीर्ण की हो या न की हो तो लेकिन इस बारे में क्या सोचते होंगे। असली बात यह है, जैसा कि आपका दिल गवाही देता हो कि आप ने वह परीक्षा पास कर ली है या कम से कम आपने उसके लिए पूरी कोशिश तो की। यह एक सवाल है जिसे आपमें से हरेक अपने आपको पूछे। यदि आप कुछ करने की कोशिश करते हैं दूसरों को दिखाने के लिए नहीं बल्कि अपने संतोष के लिए तभी आपका कल्याण हो सकता है।

कभी-कभी मैंने इस बात का जिक्र किया है कि मेरे पितामह ने उस समय मुझे क्या शिक्षा दी जब मैं एक छोटी बच्ची थी। उन्होंने कहा था "दुनिया में दो प्रकार के लोग होते हैं। एक तो वह जो काम करते हैं और दूसरे वह जो उसका श्रेय लेते हैं। पहली श्रेणी में आने की कोशिश करो क्योंकि ऐसे लोग बहुत कम होते हैं।" इसलिए मुझे उम्मीद है कि आप भी पहली श्रेणी में आने की कोशिश करेंगे और इस बात की परवाह नहीं करेंगे कि लोग आपकी प्रशंसा करते हैं या निंदा। अगर आपको इस बात में यकीन है कि आप जो कुछ कर रहे है वह ठीक कर रहे हैं; अगर आप इस बात से आश्वस्त हैं कि आप सही रास्ते पर चल रहे हैं, तब रास्ता कितना ही कठिन क्यों न हो आप यह पाएगे कि आप उसमें एक प्रकाश भर सकते हैं, न केवल अपने लिए बल्कि दूसरों के लिए भी।

और यही वह प्रकाश है जैसा कि मैंने पहले भी कहा है कि हमें अपने देश के ऋषियों से विरासत में बहुत कुछ मिला है। यह हमारा सौभाग्य है। उन परम्पराओं को इस संस्था ने अर्थात् श्रीरामकृष्ण मिशन ने जारी रखा है। यह संस्था हमारे देश में सेवा का प्रतीक बन गयी है। यही पहली संस्था है जिसने संन्यासिनियों के लिए अपने द्वार खोल दिए हैं। अन्यथा जैसा कि आप जानते हैं कि हमारे देश में बहुत सी अच्छी बातों के बावजूद मनु से लेकर उसके पश्चात् तक बहुत से ऐसे व्यक्ति रहे जो यह सोचते थे कि नारी मानव जाति का हिस्सा नहीं है। लेकिन स्वामी विवेकानन्द ने महिलाओं के महत्त्व को पहचाना जैसा कि महात्मा गांधी तथा अन्य महापुरुषों ने पहचाना था और जब तक देश की यह आधी जनसंख्या कुछ करने का प्रोत्साहन नहीं पाती और बुलन्दियों पर पहुँचने के लिए इसे अवसर नहीं दिया जाता तो सिर्फ पुरुष या लड़के इन उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल नहीं हो सकते। हमें सम्पूर्ण राष्ट्रीय प्रयत्न करना चाहिए जिसमें सभी व्यक्ति शामिल हों। हरेक उम्र के स्त्री और पुरुष।

इस तरह मैं उम्मीद करती हूँ कि यह विचार गोष्ठी या जो भी कुछ आप करते हैं आगे चलकर आपको एक अच्छा नागरिक बनाने में सहायक होगी और एक बेहतर भारत, एक श्रेष्ठ संसार बना सकेगी जिसमें भारत की स्थिति बहुत अच्छी होगी। अगर संसार ही खत्म हो जाता है तो हम ही कहाँ रहेंगे? चाहे हम कितने ही अच्छे क्यों न हों। हमें श्रेष्ठ मानवता के संदर्भ में अपने आपको बचाना है, अपने लोगों को बचाना है, अपने देश को बचाना है।

मैं स्वामी रंगनाथानन्द जी का आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने मुझे आपसे मिलने का अवसर प्रदान किया और मैं आप सब साथियों को शुभकामनाएँ देती हूँ कि आप अपने भविष्य का वीरता से मुकाबला करें।

आत्म ज्ञान

—डॉ० रामाशीष प्रसाद

रश्मियाँ सूर्य से विलग नहीं, यह विश्व ब्रह्म से है अभिन्न;
आत्मज्ञ अभेदी समदर्शी करता पदार्थ वासना छिन्न।
सम्यक् विचार के बिना कभी माया का नाश नहीं होता;
चिन्ता वासना जहाँ मिटती आत्मा-अनुभव गोचर होता।

माया का ढक्कन जब हटता आत्मा का होता स्वतःभान;
आत्मा है परमानन्दरूप, है आत्म-ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान।
माया मृगतृष्णा भड़काती, जग का अनुभव है चिदाभास;
आत्मा में द्वैत नहीं होता, आत्मा तो है शाश्वत प्रकाश।
प्रतिबिम्ब जगतका सत्य नहीं, भ्रम में रह जाता है अजान;
अज्ञान बन्धनों को लाता तो मुक्ति दिलाता आत्म ज्ञान।

जब सम्यक् ज्ञान उदित होता, रस्सी दिखती है, सर्प नहीं;
होता स्वरूप का ज्ञान जहाँ, आत्मा द्रष्टा या दृश्य नहीं।
ज्यों सागर से उठती तरंग, परमात्म ब्रह्म से निकला मन;
लेता सुवर्ण ही नाम रूप, पर अज्ञ समझता है भूषण।
दृश्यों में द्रष्टा खो जाता, माया में मनुज नहीं जगता;
तो जगत सत्यवत् लगता है औ, ब्रह्म असत्य विषय लगता।

होता स्वरूप का चिन्तन जब, आत्मा हो जाता भासमान;
तब दृश्य कल्पना मिट जाती, द्रष्टा में साक्षी विद्यमान।
अंधे का जग होता तममय, पाता अल्पज्ञ जगत दुखमय;
आँखें प्रकाश को लखती हैं, पाता तत्त्वज्ञ जगत सुखमय।

आकाश शुद्ध ही रहता है, बादल का लेप नहीं चढ़ता;
आभास जगत का आत्मा में, सच्चिदानन्द जिसमें रहता।
है जीवन मुक्त महाभोक्ता, ज्यों उदधि भोगता नदियों को;
समभाव दिखाता है साक्षी, शुभ अशुभ एक-सा मुक्तों को।
कर्त्तृत्व-त्याग जब तलक नहीं, होती आत्मा की प्राप्ति कहीं ?
जब चिन्तामणि है सर्व त्याग, रहता दुख का फिर पता नहीं।

है जीवन मुक्त महाकर्त्ता, उल्लसित दुखित होता न कभी;
हो उदय अस्त उत्पत्ति नाश, निरपेक्ष करे चिन्ता न कभी।
देखते जगत को ब्रह्मरूप जो पूर्णानन्द धार बहते;
तो ब्रह्म कवच बन जाता है, वे सुखी और निर्भय रहते।

तल्लीन और तद्रूप बने ज्ञानी न छोड़ते ब्रह्मभाव;
आत्मा तो है सुखदुखातीत ज्यों लहरों से खेलती नाव।
जब ज्ञान अग्नि जल जाती है, षडरिपुपशु स्वयं भाग पड़ते;
जीवन मुक्तों में रागद्वेष प्रारब्ध कर्म बनकर रहते।

श्री सारदा देवी

—स्वामी वेदान्तानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

सप्तदश अध्याय

(माँ और गुरु)

संसार में स्त्रियों के अन्य स्त्रियों या पुरुषों के साथ जितने प्रकार के सम्बन्ध देखे जाते हैं, उन सब सम्बन्धों में, पुत्री, बहन, पत्नी और माँ—ये चार सम्बन्ध ही मुख्य हैं। सारदादेवी के जीवन में हम देखते हैं कि ये चारों ही भाव अत्यन्त अपरूप रूप में विकसित हुए थे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में स्त्रियों का आदर्श कैसा होना उचित है, यही दिखाने के लिए उन्होंने जन्म ग्रहण किया था।

वे कैसी पुत्री थीं, इसका परिचय हमलोगों को मिल चुका है। गरीब-परिवार में जन्म लेकर बचपन से जब तक पिता के गृह में वास किया तब तक यथाशक्ति पिता-माता की सेवा की। श्रीरामकृष्ण के शरीर त्याग के बाद जब भाइयों के घर में वास करने गयीं, तब माँ का श्रम कम करने के लिए अपनी सामर्थ्य के अनुसार स्वयं परिश्रम किया। कालान्तर में जब हजारों-हजार लोग उन्हें 'माँ' कहकर पुकारने लगे, उनका स्नेह और आशीर्वाद प्राप्त कर धन्य होने लगे, तब भी उन्होंने वृद्धा श्यामा-सुन्दरी की अत्यन्त यत्न पूर्वक सेवा की।

जयरामबाटी में भाइयों के परिवार में निवास करने के समय उनका जो परिचय हमलोगों ने पाया है उससे प्रतीत होता है कि एक विशेष सौभाग्य रहने पर ही इस प्रकार की बड़ी बहन प्राप्त होती है। भाइयों के निकट उन्हें आशा करने योग्य कुछ नहीं था -उनलोगों के ऊपर निर्भर करने का उन्हें कोई प्रयोजन नहीं था। दूसरी ओर उन लोगों के परिवार में रहकर उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़े, काफी झंझटें सहनी पड़ीं। किन्तु, उन सबको उन्होंने हँसते हुए सहा। और केवल जयरामबाटी में रहने के समय नहीं, जब कलकत्ता आकर वे वास करती हैं, तब भी सुरबाला, राधू, नलिनी और माकू आदि भतीजियाँ उनके साथ आती हैं। इन भतीजियों को वे परम यत्नपूर्वक पालती-पोसती हैं, उनके विवाह की व्यवस्था करती हैं, इस हद तक कि, भतिज-दामादों को भी कई कारणों से उन्हें अपने घर में रखना पड़ता है। असंसारी होने पर भी एक पूरे परिवार का झमेला उन्हें सहन करना पड़ता है। फिर इन भतीजियों में से किसी एक का भी विचार उनके मन के अनुकूल नहीं था। तथापि वे उन सबकी सारी लालसाएं पूरी कर, उनके सारे अत्याचारों को क्षमा कर, उन सबके कल्याण के लिए सदैव चेष्टा करती हैं। साधारण संसारी मनुष्यों की तरह उनके इन्हीं सब व्यवहारों को देखकर भक्तों में कोई-कोई अपने मन में संदेह पालने लगते हैं और कभी मुख से उस संदेह को प्रकट करते हुए कहते हैं, "माँ, तुम्हें तो घोर माया में आबद्ध देखता हूँ।" अत्यन्त सरल भाव से वे इसका उत्तर देती हैं—"तुम क्या जानो बच्चा, हम स्त्री हैं, हम सब इसी प्रकार की होती हैं।"

वे कैसी पत्नी थीं सो बात काफी कही जा चुकी है। हमारे देश का आदर्श रहा है कि स्त्री हर प्रकार से पति की अनुगामिनी होंगी—पतिदेव के कल्याण-साधन को सर्वदा अपने व्रत के रूप में ग्रहण करेंगी। इस आदर्श की दृष्टि से विचार करने पर उनकी तरह की पत्नी का जोड़ा पुराणों और इतिहासों में कोई और दूसरा मिलना कठिन है। केवल पति की सेवा नहीं, जब दक्षिणेश्वर में वे वास

करती थीं, श्रीरामकृष्ण की वृद्धा माता चन्द्रमणि की भी उन्होंने परम भक्ति-भाव से सेवा की थी।

भारतवर्ष में, विशेषकर हिन्दुओं के परिवार में माँ का स्थान सबसे ऊपर है। सारे संसार में एकमात्र हमलोग—भारतवासी—ईश्वर की मातृरूप में विवेचना और उपासना करते हैं। 'माँ'—इस नाम में जिस माधुर्य, जिस आशा, जिस शक्ति और जिस निर्भरता का मिलन हम पाते हैं, वैसा और किसी नाम में हम नहीं पाते। पुत्री की भक्ति, बहन का स्नेह, पत्नी की सेवा और प्रीति—ये सभी गुण हम माँ में पाते हैं और इनसे भी अधिक पाते हैं अहेतुक, अपरिसीम स्नेह—अपने सुख-स्वाच्छन्द्य का विसर्जन कर सर्वदा सन्तान की कल्याण-कामना। श्री-सारदादेवी के जीवन में हम इसी मातृभाव का ऐसा एक अपरिसीम प्रकाश देखते हैं, जिसकी तुलना और कहीं नहीं मिलती। किसी एक भी सन्तान की माँ नहीं होने पर भी, वे किस प्रकार अपने जीवन में मातृत्व के सारे गुणों का असाधारण प्रकाश दिखाकर चिरकाल के लिए संसार मे नारी जीवन का आदर्श रख गयीं, इस बात पर विचार करने से अवाक् हो जाना पड़ता है। उन्होंने एक बार अपने मुख से एक शिष्य को कहा था, "बच्चा, जानते हो, ठाकुर का संसार में प्रत्येक के ऊपर मातृभाव था। उसी मातृभाव का संसार में विकास करन के लिए मुझे रख गये हैं।" उनके जीवन की हमलोग जितनी विवेचना करेंगे उतनी ही इस बात की सत्यता समझ सकेंगे।

श्रीरामकृष्ण की सास श्यामासुन्दरी ने एक दिन उनको सुनाकर कहा था,—"मेरी सारदा का कैसे एक पागल दामाद से विवाह हुआ। एक भी बाल-बच्चा नहीं हुआ। बाद में उसका क्या होगा?" यह बात सुनकर उन्होंने कहा, "सास ठकुरानी, उसके बच्चे के लिए चिन्ता नहीं करें, बाद में उसके इतने बच्चे आयेंगे कि 'माँ' की पुकार वह सँभाल नहीं पायेगी।" उनकी इस भविष्य-वाणी को सफल होने में अधिक समय नहीं लगा। श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण तो सारदादेवी को 'माँ' कहकर पुकारते तथा माँ की तरह उन्हें श्रद्धा-भक्ति अर्पित करते ही; बाद में जब उन्होंने कलकत्ता आकर वास करना शुरू किया तब से धर्मपिपासु नर-नारी एक-एक कर उनके चरणों में आकर आश्रय ग्रहण करने लगे। विशेषकर अमेरिका में धर्म-प्रचार कर स्वामी विवेकानन्द जब भारत लौटे एवं सारे देश में श्रीरामकृष्ण का नाम विशेषरूप से प्रचारित हुआ तथा उनके संन्यासी शिष्यगण सारदादेवी के कलकत्ता आकर रहने की सुव्यवस्था कर पाये, तब से उनके शिष्य-शिष्याओं की संख्या विशेषरूप से बढ़ने लगी।

आत्मीय स्वजनों के साथ जयरामबाटी में उनके दिन जिस प्रकार कटते, उसका कुछ परिचय हमलोग पा चुके हैं। वह उनके जीवन का एक अंश मात्र है। जब तक उनके भक्तों की संख्या विशेष नहीं बढ़ी एवं स्वामी सारदानन्द के प्रयास से जयरामबाटी में उनके रहने के लिए अलग घर तैयार नहीं हुआ, तबतक उनका अधिकांश समय इसी प्रकार कटा था; तदुपरान्त एक-एक कर भक्तों की जयरामबाटी की यात्रा शुरू होने के साथ-साथ उनके जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ।

वे कलकत्ता अथवा जयरामबाटी, जहाँ भी रहतीं, वहीं ईश्वर-प्राप्ति के लिए व्याकुल या संसार के अनेकानेक दुःखों से तापित सैकड़ों नर-नारियों ने उनके चरणों में आश्रय-ग्रहण करने के लिए जाना शुरू किया। और केवल बंगाली या हिन्दू आते थे, सो नहीं, भारत के विभिन्न प्रान्तों से अनेक भाषाओं और अनेक धर्मों के नर-नारी उनकी कृपा प्राप्त कर धन्य हुए थे। किसी-किसी भाग्यवान और भाग्यवती के जीवन में इस प्रकार की अनेक अलौकिक घटनाएँ घटी थीं कि बहुत दूर के स्थानों से सैकड़ों बाधाओं का अतिक्रमण कर वे चले आये थे उनके अनुग्रह-लाभ से जीवन को सार्थक करने। फिर ऐसे भी अनेक लोग आये थे, जिनका सत्-स्वभाव नहीं था, केवल दूसरो से उनकी महिमा की बात सुनकर आये थे। फिर भी शायद ही किसी व्यक्ति को दीक्षा दिये बिना उन्होंने लौटाया था।

दीक्षा देने के लिए उनका अपना कोई आग्रह नहीं था, किन्तु लोगों के आकर रो उठने पर वे मन्त्र दिये बिना रह नहीं पाती थीं। जब तक उनका शरीर स्वस्थ था तब तक जो सारे युवक साधु होने एवम् जो गृहस्थजन

मंत्रदीक्षा लेने के लिए बेलुड़ मठ जाते उनमें से अधिकांश को ही उनके समीप भेज दिया जाता। मंत्रदीक्षा के अतिरिक्त अनेक युवकों को उन्होंने ब्रह्मचर्य या संन्यास की दीक्षा भी दी थी। इन दोनों दीक्षाओं का असल भाव वे शिष्यों के हृदय में भर देतीं एवम् आनुष्ठानिक कार्यों के लिए बेलुड़ मठ जाकर अनुष्ठान करने को कहतीं।

वे थीं असाधारण गुरु। जिस पर कृपा करतीं, उसके पापों का भार अपने ऊपर ले लेतीं। उनके शरीर के नाना रोग शिष्यों के पाप-ग्रहण करने के फलस्वरूप हुए थे, इस बात पर वे आन्तरिक रूप से विश्वास करती थीं। और यह घटना अनेक लोगों ने प्रत्यक्ष रूप से देखी थी कि असत् लोगों के प्रणाम करने के फलस्वरूप उन्होंने अपने पाँवों में भीषण ज्वाला का अनुभव किया था; बार-बार पाँव धोने पर ही उस ज्वाला की निवृत्ति हुई थी। इस विषय में उन्होंने अपने श्रीमुख से एक शिष्य को कहा था,—"दया से मंत्र देती हूँ। छोड़ता नहीं, रोता है; यह देखकर दया हो आती है। नहीं तो मुझे क्या लाभ ? मंत्र देने से उसका पाप ग्रहण करना होता है। सोचती हूँ, शरीर तो जायगा ही तब इन लोगों का (कल्याण) हो।" मंत्र के माध्यम से शक्ति जाती है। गुरु की शक्ति शिष्य में जाती है, शिष्य की गुरु में आती है। इसीसे मन्त्र देकर पाप लेने से शरीर में इतने रोग होते हैं। गुरु होना बड़ा कठिन है—शिष्य का पाप लेना होता है। शिष्य के द्वारा पाप करने पर वह गुरु को भी लगता है। अच्छा शिष्य होने पर गुरु का भी उपकार होता है। किसी की हठात् उन्नति होती है, किसी की धीरे-धीरे होती है। जिसका जैसा संस्कार !"

इस दीक्षा देने के कार्य से उनको लाभ कुछ भी नहीं था। रुपया-पैसा या मान-यश किसी वस्तु की कंगाल वे नहीं थीं। गृहस्थों के द्वारा दीक्षा लेने आने पर अनेक को वे कुलगुरु के पास जाने को कहतीं। जो लोग उन्हें छोड़ते नहीं, उनमें किसी-किसी को वे अंगीकार कर लेतीं और कहतीं कि वे अपने कुलगुरु की वार्षिक वृत्ति बन्द नहीं करेंगे अथवा बढ़ा देंगे। कितने धनी-मानी विद्वान् व्यक्तियों ने उनकी कृपा पायी, किन्तु वे किसी की गुरु हैं—यह अभिमान उनके मन में क्षण भर के लिए भी स्थान नहीं पाता। दीक्षा के अन्त में श्रीरामकृष्ण का चित्र दिखाकर सब से कहतीं,—"ये ही तुम्हारे गुरु हैं।" शिष्यों से कभी वे रुपये-पैसों की प्रत्याशा नहीं करतीं। किसी से कुछ चाहना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। शिष्यगण प्रसन्नतापूर्वक जब जो देते उसीसे उनके घर और उपस्थित भक्तों का खर्च चल जाता।

दीक्षा देने के कार्य में वे प्रचलित अनेक प्रकार के छोटे-मोटे नियमों को मान कर नहीं चलतीं। जब जिस भाव से जिसको दीक्षा देने की आवश्यकता अनुभव करतीं, तब उसको उसी भाव से देतीं। दो-एक घटनाओं का उल्लेख करने से ही समझ में आ जायेगा कि इस दीक्षा-दान के कार्य में शिष्य का कल्याण छोड़कर और कोई विचार उनके मन में स्थान नहीं पाता था।

उन दिनों वे कोयलपाड़ा—जयरामबाटी के समीपस्थ एक ग्राम—में कुछ दिनों के लिए निवास कर रही थीं। इसी समय राजनैतिक कारणों से नजरबन्दी एक युवक छूटने के बाद उनके समीप उपस्थित हो दीक्षा चाहने लगा। कोयलपाड़ा आश्रम के ऊपर उन दिनों पुलिस की कड़ी दृष्टि थी। इसीसे आश्रम के अध्यक्ष उस युवक को आश्रम में रखने से नाराज़ थे। उस समय संध्या होने-होने को थी। यह समाचार सारदादेवी को मिलने पर उन्होंने एक शिष्य को कहा, "आह, वह लड़का कितने कष्ट से व्याकुल होकर आया है ! तुम अगर आज रात भर गाँव के किसी आदमी के घर में उसके रहने की व्यवस्था कर पाओ तो कल सवेरे में उसे दीक्षा लेकर चले जाने कहूँगी।" उनके संकेत से उस अनुयायी युवक को एक घर में रखने की व्यवस्था हुई। दूसरे दिन सवेरे जगदम्बा आश्रम से एक मैदान पारकर राधू के घर जाने के समय उन्होंने उस युवक को आते देखा। तभी उन्होंने अपने साथ के एक शिष्य को दीक्षा के पहले आचमन करने के लिए निकटवर्ती पोखर से एक ग्लास जल लाने का कहा और बगल से दो आँटी पुआल लाकर एक पर अपना आसन ग्रहण किया और दूसरे पर युवक को बैठने कहकर उसे दीक्षा दे दी। कृतार्थ होकर युवक चला गया।

सारदादेवी उन दिनों कलकत्ते में थीं। एक दिन बारह वर्ष का एक लड़का उन्हें प्रणाम करने के बाद रोने

लगा। उसे रोते देख वहाँ उपस्थित एक साधु के द्वारा रोने के कारण की जिज्ञासा करने पर उसने उत्तर दिया, "माँ की कृपा चाहता हूँ।" साधु के मन में हुआ, इतना छोटा लड़का, दीक्षा को क्या जाने ? दूसरे से सुनी बात पर इठला रहा है। धमकाते हुए उन्होंने लड़के से कहा, 'कृपा क्या रे ? जाओ, बाद में होगी।" वह लड़का दूसरे दिन सवेरे फिर आकर उद्बोधन-भवन के बाहर के बारामदे में बैठ गया—उसकी ओर देखने की किसी को आवश्यकता नहीं हुई। लेकिन लड़के पर जिनकी दृष्टि पड़नी चाहिए थी उनकी दृष्टि ठीक से पड़ी। सारदादेवी ने राधू के द्वारा लड़के को अपने पास बुलाकर दीक्षा दी। कृतार्थ हो सहासमुख नीचे आ, वह लड़का उक्त साधु को देखकर अपने सौभाग्य की बात बता चला गया। साधु ने सारदादेवी के समीप आकर कहा, "माँ, इतने छोटे लड़के को दीक्षा दी ? वह दीक्षा को क्या समझे ?" करुणारूपिणी देवी ने उत्तर दिया, "सो जो हो, बच्चा, वह लड़का कल इस प्रकार पाँव पकड़कर रोया ! कौन भगवान के लिए रोता है, देखकर कह ? यह बुद्धि कितने लोगों की होती है !"

जयरामवाटी से मलेरिया रोग भोग कर जीर्ण-शीर्ण हो वे कलकत्ता आयी हैं। शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया है—किसी को उनका दर्शन नहीं करने दिया जाता है। इसी समय बम्बई से एक पारसी युवक उनके दर्शनार्थ आकर उपस्थित होता है। एक तो भिन्न धर्म का व्यक्ति, उसपर कितना कष्ट उठाकर इतनी दूर से आया है, यही सब सोचकर स्वामी सारदानन्दजी ने युवक को दर्शन करने की अनुमति दी। युवक ने सारदादेवी को प्रणाम कर प्रार्थना की—"माई जी, कुछ मूलमन्त्र दीजिए जिससे खुदा को पहचाना जाय"—यह प्रार्थना सुनकर उन्होंने सेवक को कहा, 'दूँगी ? दे देती हूँ।" किन्तु उनकी शारीरिक अस्वस्थता की बात सोचकर सेवक ने मृदु आपत्ति प्रकट की, एवं उनके आदेशानुसार स्वामी सारदानन्दजी का विचार जानने गया। किन्तु विचार जानकर लौट आने पर सेवक ने देखा, कि वे आसन बिछा स्वयं बैठ और युवक को बैठाकर दीक्षा देने के लिए प्रस्तुत हैं। दीक्षा लेकर युवक के चले जाने पर उन्होंने सेवक से कहा, "अच्छा लड़का था, मैंने जो कहा उसे समझ गया।" दीक्षा देने के समय उन सब भिन्न भाषा-भाषियों के साथ वे बंगला में ही बातें करतीं—किन्तु वे सब समझ लेते थे।

उनकी अहेतुक करुणा का एक और दृष्टांत ! एक दिन ट्रेन पकड़ने के लिए विष्णुपुर स्टेशन पर बैठी थीं। उसी समय रेलगाड़ी का एक कुली कहीं से तेजी से आकर हाउ-माउ कर रोते हुए उनके पाँवों पर गिर पड़ा। उसने हिन्दी में इस प्रकार की बात कहकर अपने प्राणों के आवेग को व्यक्त किया—"तुम मेरी जानकी हो। तुम्हें कितने दिनों से मैं ढूँढ़ने निकला हूँ। इतने दिनों से तुम कहाँ थी, माँ ?" इत्यादि। उन्होंने उसे सान्त्वना देकर एक फूल का जुगाड़ कर लाने कहा और वहीं उसे दीक्षा दी। अत्यन्त साधारण वस्त्र पहने घूँघट में ढँकी इन देहाती स्त्री में कुली ने क्या देखा था, वही जाने। दीक्षा के बाद उस कुली को विष्णुपुर स्टेशन पर फिर नहीं देखा गया।

इस घटना से हम समझ पाते हैं कि कोई उनकी प्रशंसा या सम्मान करेगा अथवा रुपया-पैसा देकर आदर करेगा यह सब विचार उनके मन में रंच मात्र भी स्थान नहीं पाते थे। कैसे दूसरा सुखी होगा, शान्ति-लाभ करेगा, केवल यही भाव उनके मन पर सदा अधिकार किये रहता, सबका कल्याण हो यही आग्रह लेकर वे सारे कार्य किये जातीं।

गुरु और शिष्य के बीच सर्वदा एक बड़ा व्यवधान सर्वत्र देखने के हमलोग अभ्यस्त हैं। शिष्य गुरु को सर्वदा आदर करता चलता है, सभी प्रकार से उनकी सेवा करता है और गुरु अपनी महिमा में अधिष्ठित रहकर शिष्य की कल्याण-कामना करते हैं—यही हमलोग सचराचर में देखते हैं। किन्तु सारदादेवी को एक आश्चर्यजनक ढंग की गुरु हमलोग देखते हैं। प्रथम परिचय से ही शिष्य-शिष्याएँ उनसे माँ का स्नेह पाते एवं उन्हें गर्भधारिणी माँ की तरह एकान्त रूप से अपनी मानने को अभ्यस्त होते। अपने असाधारण ज्ञान और अध्यात्मिक शक्ति को वे मातृ-स्नेह के आवरण में ढँके रखतीं। शिष्याओं को अपने पास बिठातीं—अपने बिछावन पर सुलातीं—शिष्या की दुविधा प्रकट करने पर कहतीं,

"इसमें कोई दोष नहीं है।" किसी शिष्या के परिश्रान्त होकर उपस्थित होने पर अपने हाथों में ही पंखा लेकर हवा करतीं—शिष्या की आपत्ति सुनतीं नहीं। खाने के बाद आचमन का समय होने पर किसी शिष्या को स्वयं चहबच्चे से लोटे में आचमन के लिए जल लाकर देतीं। किसी शिष्या का बच्चा बिछावन पर ही मूत्र त्याग कर देता था—उसे वे स्वयं धोकर सूखने को देतीं।

शिष्याओं को भी वे ठीक पुत्रीवत् स्नेह करतीं। सुन्दर रास्तों और गाड़ी-वाहन के अभाव के कारण उन दिनों जयरामबाटी जाना अत्यन्त कष्टकर था। इसी से दूर के स्थानों से जो लोग दर्शन-लाभ के लिए जयरामबाटी जाते उनमें से अनेक लोग दिन या रात किसी समय उपस्थित हो जाते। किन्तु इससे उन्हें किसी प्रकार की क्लान्ति या कष्ट का अनुभव नहीं होता।

जयरामबाटी में एक तरुण शिष्य को काफी कलकल (एक प्रकार का घाव) हो गया था। वे स्वयं उसके घाव को साफ कर दवा लगा देतीं एवं खाने के समय अपने हाथों खिला देती थीं। कोई शिष्य किसी कार्य से कहीं बाहर चला गया है—लौटने में काफी देर हो गयी है। वे स्वयं भोजन नहीं कर उसके लिए प्रतीक्षा कर रही हैं। शिष्य के टोकने करने पर वे कहती हैं—"बच्चा, तुमने खाया नहीं—मैं कैसे खाती ?" जयरामबाटी से जब कोई अपने घर लौटने लगता है तब रास्ते में खाने के लिए वे शिष्य को खाना बाँध देती हैं और रास्ते में कुछ दूर तक साथ जाती हैं, शिष्य जब तक आँखों से ओझल नहीं हो जाता तबतक, वे रास्ते की ओर देखती रहती हैं। उनके थोड़े दिनों के लिए कामारपुकुर में रहने के समय जब कोई भक्त वहाँ जाते हैं तब वे उन्हें भोजनोपरान्त उच्छिष्ट साफ करने का आदेश देती है—कहती हैं, "यह गुरुस्थान है, यहाँ भोजन करने पर जूठा साफ करना होगा।" कामारपुकुर श्रीरामकृष्ण का जन्मस्थान है न ! किन्तु जयरामबाटी में वे किसी को जूठा पत्तल या थाल आदि उठाने या धोने नहीं देतीं। आदमी के नहीं रहने पर स्वयं वह कार्य करतीं—और आदमी प्रायः नहीं ही रहता था।

इन सब से हम समझते हैं कि "मैं गुरु हूँ" यह अभिमान उनके पास नहीं था, 'मैं सब की माँ हूँ' यही भाव लेकर वे शिष्य-शिष्याओं के साथ सारे व्यवहार करतीं। और उनके इस स्नेह में धनी-दरिद्र, पंडित-मूर्ख के भेद से किसी प्रकार की पृथकता कोई देख नहीं पाता था—राजा या भिखारी उनके स्नेह और करुणा को पाकर समान रूप से सभी संतुष्ट होते—हर एक के मन में होता, वे उसे सब से अधिक प्यार करती हैं।

शिष्यों के साथ व्यवहार में उनके जातिगत अभिमान का भी कोई परिचय नहीं मिलता। वे स्वयं खाती रहतीं और तभी अब्राह्मण शिष्य-शिष्या को अपने हाथों से प्रसाद देने पर बिना हाथ धोये खाना आरम्भ कर देतीं। इस पर किसी को आपत्ति करने पर कहतीं, "क्यों, वह क्या मेरा बच्चा नहीं है ?" कोई नीच जाति का भक्त होने पर अन्य लोगों के साथ मिलने-जुलने में संकोच का अनुभव करता तो वे दुःखी हो उससे अपने मन का दैन्य-भाव दूर कर देने को कहती थीं। (क्रमशः)

"अगर तुम पश्चिम की जड़वादी भौतिक सभ्यता का आतुर अनुसरण करने के लिए अपनी आध्यात्मिकता का परित्याग करोगे, तो तीन पीढ़ियों में तुम्हारी जाति और राष्ट्रीय ईकाई मृत हो जायगी, क्योंकि राष्ट्र का मेरुदंड टूट जायगा, उसकी आधारभूत नींव ध्वस्त हो जायगी और चारों ओर महानाश फैल जायगा।"

—स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द की ओर मेरा आकर्षण

—मित्र कौटिल्य (कलकत्ता)

[श्री मित्र कौटिल्य अपने छात्र जीवन में एक पूर्ण निष्ठावान् मार्क्सवादी थे। गंभीर अध्येता रहे हैं ये मार्क्सवादी साहित्य और समाजशास्त्र के। किन्तु उन्हें अपनी सारी प्रज्वलित आंतरिक जिज्ञासाओं का समाधान मार्क्स-एँजिल्स-लेनिन में नहीं मिला। वह मिला आकस्मिक रूप से उनके हाथ आयी स्वामी विवेकानन्द विषयक एक ग्रंथ से। और एक रूपान्तरण घटित हुआ श्री कौटिल्य के हृदय में। और आज वे रामकृष्ण मिशन के एक प्रभविष्णु तरुण संन्यासी हैं। अबतक आधे दर्जन से अधिक उनके ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इतिहास चिन्ताय विवेकानन्द, चिन्तानायक विवेकानन्द, लोक जीवने श्रीरामकृष्ण, धर्म, कुसंस्कार ओ लोकाचार, मार्क्स ओ विवेकानन्द, पॉलिटिकल कॉन्सेप्ट ऑफ स्वामी विवेकानन्द, ट्रैडिशन एण्ड मॉडर्निटी आदि इनके प्रमुख ग्रंथ हैं। यहाँ हम उनकी पुस्तक 'विवेकानन्देर विप्लव चिन्ता' के कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर रहे हैं।—सं०]

स्वामी विवेकानन्द ही प्रथम भारतीय थे जिन्होंने इस युग में स्वयं को समाजवादी घोषित किया था। इसके साथ ही उन्होंने कहा था, "मैं एक समाजवादी हूँ, इसका अर्थ यह नहीं कि यह एक पूर्ण आदर्श है, इसका कारण मात्र यह है कि भूखे रहने से आधा पेट खाना अच्छा है।" अर्थात् समाजवाद भी सारी समस्याओं का समाधान नहीं कर पायेगा, इस विषय में वे निश्चित थे। किसी-किसी लेखक ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि जन-साधारण की उन्नति के लिए स्वामीजी ने जिस पथ की बात कही थी उसके पीछे मार्क्स और क्रॉप्टकिन का प्रभाव था। किन्तु यह मत ग्रहण करने योग्य नहीं है। भारतीय पत्रिकाओं में, जहाँ तक ज्ञात है, मार्क्स का नामोल्लेख सर्वप्रथम १८९० ई० में 'थियोसोफिस्ट' नामक पत्रिका में हुआ था। उस समय स्वामीजी भारत में परिव्राजक के रूप में पर्यटन कर रहे। १८९३-९५ ई० के वर्षों में भी दो-तीन बार इस नाम का उल्लेख भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में देखा जाता है। किन्तु उन दिनों स्वामीजी पश्चिमी देशों में चले गये थे। और क्रॉप्टकिन से उनकी भेंट हुई थी १९०० ई० के अगस्त महीने में, पेरिस में। दीर्घ काल तक भारत-परिभ्रमण के समय उन्होंने जो वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया था, उसकी सहायता से ही उन्होंने स्वयं वक्तव्य दिया श्रीरामकृष्ण-कथित जीवन-जिज्ञासा के आधार पर। शिकागो की धर्म-सभा में उपस्थित होने के पूर्व ही अपने मद्रासी शिष्य आलासिंगा को उन्होंने एक पत्र में लिखा था—'नृशंस समाज भारतीय गरीबों के ऊपर जो निरंतर आघात कर रहा है उसकी यंत्रणा वे पाते हैं, किन्तु ये गरीब जानते नहीं कि कहाँ से यह मार पड़ रही है।" यह विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य है कि वे भारतीय गरीबों को सचेत करना चाहते हैं 'कहाँ से यह मार पड़ रही है' इस विषय में। इसी पत्र में उन्होंने लिखा था उच्चपदस्थ और धनियों पर भरोसा नहीं करने को, 'भरोसा पद मर्यादाहीन विश्वासी दरिद्रों पर ही करना है।" १८९६ ई० में वे भारत लौट आये। कोलम्बो से लाहौर तक अनेक व्याख्यानों में उन्होंने उच्चकण्ठ से अपने मत और मार्ग की घोषणा की—"असल बात है जनगण की सहायता से ही जनगण की मुक्ति लानी होगी।" इन सब व्याख्यानों में उन्होंने सोशलिज्म, मूलधन और श्रम का सम्बन्ध आदि विषयों का उल्लेख किया था। पाश्चात्य समाज में इन सबकी क्रिया-प्रतिक्रिया को लेकर भी उन्होंने अपने मंतव्य दिये थे।

दूसरी बार पश्चिमी देशों की यात्रा के क्रम में क्रॉप्टकिन के साथ काफी बातें हुई थीं। स्वामजी का व्याख्यान सुनने कम्यूनिस्ट भी आते थे (यह बात उनके

लेखन से ही जानी जा सकती है)। किन्तु स्वामीजी की ध्यान—धारणा के बीच एक मौलिक दृष्टिभंगी थी। विशेषकर तत्कालीन नेशनल कांग्रेस की नीतियों का विरोध करते हुए उन्होंने कहा था, "कांग्रेस गरीबों के लिए क्या करती है ?" "बनियों के राज्य में गरीब के भिक्षापात्र की कोई भी कीमत नहीं है।" विशेषकर स्वामीजी ने जब (१९०१ ई० में ढाका शहर में) कहा था, "मैं कहता हूँ, सुनो—शूद्रों का अभ्युत्थान सर्वप्रथम होगा रूस में, एवं बाद में चीन मे" तब निश्चय ही इतिहास-चेतना से युक्त लोगों के सामने उससे एक बिजली कौंधी होगी ! इस तरह आशावादी तो मार्क्स या एँजिल्स भी नहीं थे, लेनिन उन दिनों भी अपना मार्ग ढूँढ़ने में व्यस्त थे और माउत्से तुंग तो उस समय शिशुमात्र थे।

छात्र जीवन में जब मैं मार्क्सवादी आन्दोलन के साथ जुड़ा था, तब से ही मेरी जिज्ञासा नये पथों की ओर मुड़ती रही। मार्क्सवादी साहित्य में अनेक प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ पाया था। मन में और भी अनेक सारे साहसी प्रश्न उत्पन्न हुए थे। अधिक क्या कहूँ ! उन सारे प्रश्नों के उत्तर इस साहित्य में ढूँढ़ नहीं पाया। इसके अतिरिक्त मार्क्सवादी अर्थनैतिक विवेचनाओं ने मेरे मन में जितने प्रश्न उठाये थे, इतिहास और दर्शन (डायलेक्टिकल मेटरियलिज्म : द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) उतने ग्रहण योग्य मन को प्रतीत नहीं हुए। इसी समय, भूपेन्द्रनाथ दत्त लिखित स्वामी विवेकानन्द के ऊपर पुस्तक अचानक मेरे हाथ आयी। निरुत्तरित सारे प्रश्न नयी दिशा देखकर क्रमशः उन्मोचित होने लगे। दृष्टिगत हुई स्वामीजी की अनेक विख्यात ऐतिहासिक उक्तियाँ—रूस-चीन में ही सर्वप्रथम शूद्रों का अभ्युत्थान होगा, यूरोप-अमेरिका में ५० वर्षों के भीतर ही दो विराट् युद्ध होंगे, आगामी संसार में हूण और निग्रो, इन्हीं दो विशाल शक्तियों का उदय होगा, स्वाधीनता के बाद चीन की ओर से भारत पर संकट आयगा, भविष्य में सम्पूर्ण विश्व को भारत नया मार्ग दिखायगा, आदि-आदि। जिस स्वामीजी ने हाथ-देखनेवाली ज्योतिषचर्चा की तीव्र भर्त्सना की थी, उन्होंने कैसे ये भूल-रहित भविष्यवाणियाँ कीं ? निश्चय ही इतिहास और समाज विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने कोई नया सूत्र देखा था। स्वामीजी की ग्रंथावली में मैंने डुबकी लगायी। धीरे-धीरे नया दिगन्त खुला, जो मन के विश्लेषण से ऐतिहासिक चेतना से समुज्वल था। विज्ञान का छात्र था मैं और समाजशास्त्र था मेरा प्रिय विषय। किन्तु स्वामीजी के ग्रंथों में एक इस प्रकार का धर्म पाया जो नास्तिक के लिए भी ग्रहण योग्य था; दर्शन और विज्ञान हाथ में हाथ डाले उस समय आकर मेरे सामने खड़े हो गये थे। मेरी चेतना का गहन रूपान्तरण हो गया। इसमें और भी इन्धन एकत्र कर दिया हक्सले, सार्त्र, रसेल, मार्क्विज और कृष्णमूर्त्ति की पुस्तकों ने। परिचय हुआ रामकृष्ण मिशन के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी माधवानन्दजी महाराज से। ज्ञान, प्रेम और कर्म का ऐसा सर्वाङ्ग, सुन्दर चरित्र संसार में दुर्लभ है।

तब से ही अनेक विषयों पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लिखता हूँ, यह बात ठीक नहीं, वस्तुतः विभिन्न प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ता हूँ। निःसंग मनुष्य की अन्तहीन जिज्ञासा अभी भी मेरी सत्ता को तन्निविष्ट किये रखती है। विवेकानन्द को पूरा समझता हूँ—यह दावा नहीं करता। बल्कि यह कहा जाय कि अपने विभिन्न प्रश्नों के उत्तर विवेकानन्द में जिस प्रकार मैंने पाये हैं, उन्हें ही लिखा है। यह मेरी ही व्याख्या है स्वामीजी के सम्बन्ध में। उनके सम्बन्ध में हुए इस मूल्यांकन में असम्पूर्णता का होना अस्वाभाविक नहीं है। इसके अतिरिक्त, मनुष्य की चेतना में भी तो परिवर्तन होता है ! भविष्य में स्वामीजी का चिन्तन नया आलोक प्राप्त करेगा—यह बात भी उड़ा देने योग्य नहीं है।

———

झूठे बन्धन

—ब्रह्मचारी तृप्ति चैतन्य
रामकृष्ण मिशन, आश्रम, पटना।

रात का अन्धकार छा जाने के पूर्व ही, ऊँटों का एक काफिला किसी सराय के सामने रुक गया। लम्बी यात्रा, तथा थकान से भरे काफिले के स्वामी ने सेवकों को आज्ञा दी—'सब ऊँटों को यहीं बाँध दिया जाय। रात इसी सामने वाली सराय में बितायी जाएगी, तथा यहीं भोजन भी होगा।"

सेवकों ने स्वामी की आज्ञा का पालन किया। ऊँटों को बाँध दिया गया। परन्तु एक ऊँट को बाँधा नहीं जा सका। ऊँट की रस्सी और खूँटी रास्ते में कहीं गिर गयी थीं। ऊँट को बाँधना अति आवश्यक था। नहीं तो रात्रि के अंधकार में उसके कहीं भटक जाने की पूर्ण सम्भावना थी। सेवक ने जाकर स्वामी को विवशता बतायी—

'स्वामी! सब ऊँट बांध दिये गये हैं, किन्तु एक ऊँट की रस्सी व खूँटी संभवतः मार्ग में कहीं ...'

"कोई बात नहीं। जाओ, और सराय के मालिक से पूछो। संभवतः उसके पास मिल सकेगी"--स्वामी ने आदेश दिया। सेवक ने जाकर सराय के मालिक को सारी बातें बतायीं तथा एक रस्सी और एक खूँटी देने की प्रार्थना की। सराय के मालिक ने अत्यन्त विनम्रता से कहा "मित्र मेरे पास भी खूँटी और रस्सी नहीं हैं। तुम वापस जाकर नित्य दिन की भाँति खूँटी गाड़ कर ऊँट को रस्सी से बाँध दो।"—"किन्तु आप खूँटी तो दे रहे हैं नहीं"—"हाँ—वह मेरे पास नहीं हैं। किन्तु तुम जाकर ऊँट को बाँध दो।" सेवक के बार-बार प्रार्थना करने पर सराय का मालिक वही उत्तर दे देता।

सेवक ने जाकर स्वामी को यह हास्यास्पद बात बतायी। बुद्धिमान स्वामी इसका कुछ अर्थ न समझ स्वयं सेवक के साथ सराय के मालिक के पास गया, तथा खूँटी और रस्सी देने की प्रार्थना की। उसने वही पुराना उत्तर दुहरा दिया। इस प्रकार ऊँटों के मालिक ने कहा—"भगवन्!—हम आपकी बात समझ नहीं पा रहे हैं। रस्सी और खूँटी भी नहीं दे रहे हैं—न ही वह हमारे पास है, इस स्थिति में ऊँट को बाँधना कैसे संभव होगा? क्यों नहीं दयाकर आप ही हमारे साथ ऊँट को बाँध दें।" सराय का मालिक राजी हो गया। रात का अन्धकार क्रमशः बढ़ आया था। वे लोग वहीं पहुँचे जहाँ ऊँट खड़ा था। सराय के मालिक ने खूँटी गाड़ने वाला हथौड़ा मँगवाया। फिर ऊँट के सामने पृथ्वी पर ऐसी चोटें कीं जैसे खूँटा गाड़ा जा रहा हो; ऊँट के सामने रोज यही घटना घटती थी। उसने समझा खूँटा गाड़ा जा रहा है। फिर सराय के मालिक ने ऊँट के गले में हाथ घुमाया, जैसे उसे रस्सी बाँधी जा रही हो। फिर ऊँट के गले से हाथ लेकर झूठी खूँटी पर बाँधने का अभिनय किया। ऊँट ने समझा उसे बाँध दिया गया है, और वह बैठ गया। काफिले का मालिक सब समझ गया—तथा धन्यवाद देकर सराय के मालिक को विदाई दी।

दूसरे दिन प्रातःकाल सब ऊँटों की रस्सियाँ खोली गयीं। खूँटें उखाड़ी गयीं। सब ऊँट उठ खड़े हुए। किन्तु, यह झूठी रस्सी में बँधा ऊँट नहीं उठा क्योंकि इसकी रस्सी नहीं खोली गयी थी। ऊँट वाला फिर भागकर सराय के मालिक के पास गया। बोला—"भगवन् आपने ऊँट को कल रात क्या जादू किया—वह उठता ही नहीं।" "क्या उसकी खूँटी रस्सी खोल दी गयी है।?"—उसने प्रश्न किया।—"परन्तु वहाँ तो कोई खूँटी-रस्सी नहीं है, खोलें क्या?" "ठीक कहते हो, तुम्हारे लिए नही है, किन्तु ऊँट के लिए तो है। चलो मैं खोल देता हूँ।, इतना कह उसने ऊँट के पास आकर फिर ऐसा अभिनय किया—जैसे

रस्सी खोली जा रही है, तथा खूँटा उखाड़ा जा रहा है। यह होते ही ऊँट खड़ा हो गया। उसकी रस्सी खुल चुकी थी।

ऊँटों का मालिक आश्चर्य चकित हो गया। यह सब क्या? उसने सराय वाले से प्रश्न किया—"जादू जानते हैं आप क्या? झूठे बन्धन में बाँधना आपने कहाँ सीखा?" सरायवाला हँसा—"मित्र, यह न जादू है, न इसमें कुछ सीखने की आवश्यकता है। मैं तो मनुष्यों के नित्य दिन के जीवन में देखता हूँ कि कैसे इनलोगों ने घर माँ, पिता समाज, धर्म-व्यवसाय आदि के कितने झूठे बंधनों में अपने आप को बाँध रखा है। हम स्वयं इन सब झूठे बन्धनों की सृष्टि करते हैं। फिर चिल्लाते हैं, मुक्ति के लिए; उन बन्धनों से, जो हैं ही नहीं। मैंने इसे समझा और ऊँट पर केवल इसका प्रयोग किया। जब इतना बुद्धिशाली मनुष्य अपने बनाये झूठे बन्धनों में फँस जाता है तो ऊँट क्यों नहीं फँसेगा!

झूठे बंधनों से मुक्ति ही—प्रभु की ओर जाने का दूसरा नाम है।

भगवान रामकृष्ण परम हंस देव

[महाकाव्य]

लेखक : अमरनाथ मेहरोत्रा **अध्यापक, विश्व भारती**

श्रीनिकेतन, प० बंगाल पिन ७३१२३६

प्रकाशक : उमा मेहरोत्रा, श्रीनिकेतन प० बंगाल पिन ७३१२३६

पृष्ठ संख्या : १२०० मूल्य : १२० रु० प्रकाशन पूर्व मूल्य : ६० रु०

यह भक्तिप्रधान महाकाव्य बंगला पुस्तक श्री श्री रामकृष्ण पुंथी पर आधारित है। पर कवि ने अपनी स्वतंत्र प्रतिभा का निदर्शन किया है। सुश्री महादेवी वर्मा ने इस रचना की प्रशसा की है और अपनी शुभ कामना व्यक्त की है। जिन विद्वानों ने इस काव्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनमें से कुछ हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं

डॉ० सियाराम तिवारी, हिन्दी भवन, शांतिनिकेतन

रचना में हृद्यता के गुण के लिए आवश्यक है कि प्रतिपाद्य विषय के साथ रचयिता का अंतरंग सम्बन्ध हो। मेहरोत्रा जी मात्र कवि नहीं, रामकृष्ण परमहंस के परम भक्त भी हैं। अतः इन्होंने रामकृष्ण चरित्र को रमणीयता के साथ प्रस्तुत कर दिया है। श्री अमरनाथ मेहरोत्रा के इस ग्रंथ में मौलिकता का पूर्ण स्वारस्य है। इसे लोकप्रियता प्राप्त हो, यही मेरी शुभकामना है।

श्री विष्णुकान्त शास्त्री, कलकत्ता विश्वविद्यालय

विश्वभारती, श्रीनिकेतन के विद्वान प्राध्यापक श्री अमरनाथ मेहरोत्रा ने जिस लगन और निष्ठा के साथ श्री रामकृष्ण परमहंस देव की जीवनी की हिन्दी में काव्य रचना की है, वह सचमुच प्रशंसनीय है। श्री श्री रामकृष्ण भारतीय नव जागरण के आध्यात्मिक पुरोधा थे। उनके सिंहविक्रम शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय साधना की महिमा की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा कर सुप्त भारत के स्वाभिमान को जगाया, उसकी तरुणाई को विधायक दिशा दी।

हिन्दी में रामकृष्ण परमहंस देव की गद्यात्मक जीवनी थी किन्तु पद्यबद्ध जीवनी नहीं थी। पद्यात्मक रचना का माधुर्य और आवेदन निराला ही होता है। यह काव्य ग्रंथ इस अभाव को दूर कर देगा। श्री मेहरोत्रा ने कवि प्रतिभा का अच्छा प्रमाण इस कृति में दिया है। मेरा विश्वास है, हिन्दी जगत इस कृति का समुचित समादर करेगा।

निवेदन

हिन्दी प्रेमी भक्त जनों से प्रार्थना है कि वे अधिकाधिक संख्या में प्रकाशन पूर्व ग्राहक बनकर व आर्थिक सहायता द्वारा इस भक्ति समन्वित काव्य ग्रंथ 'रामकृष्ण' के प्रकाशन को शीघ्र संभाव्य बनायें।

व्यावहारिक जीवन-दृष्टि (धर्म)

—जितेन्द्र शर्मा

भौतिक विभाग, सायंस कॉलेज, पटना

वसुदेव सुतं देवम् कंसचाणूर मर्दनम् ।
देवकी परमानन्दं कृष्ण बन्दे जगत् गुरुम् ॥
ऊँईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्याम् जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य-स्विद्धनम ॥

यह सब जो ब्रह्मांड में लोक हैं, वे सब पूर्णतः परमात्मा से व्याप्त हैं (भरे पड़े है) । इसलिए हे मानव ! तू इस संसार का त्याग-भाव से उपभोग कर । लालच मत कर, क्योंकि भला यह धन किसका है ? (और किसका होगा ?)

ईशावास्योपनिषद का यह मन्त्र ही पर्याप्त है, मनुष्य को ईश्वर की सर्वव्यापकता का अनुभव करा देने में और उस दृष्टि से केवल स्वार्थ-हित-चिंतन को धीरे-धीरे छोड़ते हुए मात्र जीवन-निर्वाह हेतु सांसारिक सुखों का उपभोग करने में उक्त मन्त्र के स्रष्टा प्राचीन ऋषि, इसके द्रष्टा भी रहे हैं । उन्होंने इसकी सार्थकता का अनुभव (आत्म प्रतीति) कर लेने के बाद ही ऐसा सिद्धान्त निश्चित किया है ।

ऐसा स्वतः प्रेरित साम्यवाद और कहाँ मिलेगा ? जो स्वयं आचरण में लाकर दूसरे को आचरण में लाने की प्रेरणा देता हो ? यह साम्यवाद चिरस्थायी है, स्वान्तः सुखाय होकर बहुजन हिताय बन जाता है । अनधिकार चेष्टा से निवृत कर देता है और सीमा में रखकर शान्ति का अनुभव करा देता है ।

आडम्बर एवं पाखण्ड का नामोनिशान मिटा देता है साथ ही ईमानदारी और कर्त्तव्य परायणता का आचरण भी करा देता है । यह स्वेच्छा प्रेरित उदात्त विचार और श्रेष्ठ कर्म का श्री गणेश करने वाला है न कि बलात्-हठात् लाद देने वाला, स्वार्थपूर्ण भौतिक सुखों में लिप्त करा देने वाला ।

यही तो अपना परम्परागत चिरन्तन संस्कार है । निरा भौतिकवादी परकीय-विचार-धारा के अन्धानुकरण से प्रेरित, साम्यवाद नहीं । हम भूलते जा रहे हैं कि भारत का प्रत्येक नागरिक ईश्वर से प्रार्थना करता था—कुछ अभी भी (मन-आचरण से) करते हैं—कि

साईं इतना दीजिए जामे कुटुम्ब समाए ।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाए ॥

उसे अधिक की चाहना नहीं, न उस हेतु वह यत्न करता है । स्वयं के लिए, कुटुम्ब के लिए और अतिथि के भरण-पोषण मात्र के लिए, कामना करता हुआ उद्योग करता है ।

उसे ईश्वर में विश्वास है । नमक का ढेला पानी में लटकाने पर दीखता है परन्तु वही घुल जाने पर पानी के कण-कण में व्याप्त हो जाता है । अतः ईश्वर दीखे तो कैसे ? वह तो इस ब्रह्मांड के कण-कण में घुला पड़ा है । जहाँ दृश्य सृष्टि है, वहीं मूल में वह अदृश्य भी मौजूद है । इसीलिए तो उसमें गति है । वह जीवन्त है अन्यथा सभी पदार्थ जड़ और निर्जीव हैं ।

भला इस परिस्थिति के, इस अनजाने में, उस प्रभु के सामने ही (हम) कितना अन्याय और पाप करते जा रहे हैं ! धन और ऐश्वर्य ने किसका साथ दिया है और भविष्य में देगा ? दैनिक जीवन में अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं । वह तो केवल शरीर के धारण-पोषण का साधन मात्र है जिससे कर्ममय संसार का काम उत्तम रीति से चलता रहे, बस, वह अपने आप में साध्य नहीं । साध्य तो कुछ और ही है जिसका विनाश नहीं होता, जिसमें शांति है, आनन्द है ।

वह प्रभु आपके हृदय में रह कर आपको अच्छे कर्मों की प्रेरणा दिया करता है । इसका अनुभव प्रत्येक मनुष्य स्वतः कर लेता है—कठिन परिस्थितियों में तथा दुःसाध्य अन्य लोक-कल्याणकारी कार्यों में । थोड़ा विश्वास करने पर उसे अनायास अतिशय शक्ति और सामर्थ्य की प्रेरणा हो जाया करती है ।

तभी तो राष्ट्र सुखी-सम्पन्न और चरित्रवान् बनकर स्वयं अपना कल्याण करके विश्व के कल्याण-पथ का मार्ग-दर्शन, दक्षता पूर्वक करने में समर्थ होता है ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । (गीता २-४७)
कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

समस्त गीता शास्त्र का सार, इस महामन्त्र के द्वारा भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से, सम्पूर्ण मानव समाज को सम्बोधित कर उपदेश किया है । कर्म से विरत हुए अर्जुन को अपने कर्त्तव्य-धर्म का पालन करने हेतु ही गीता का उपदेश योगेश्वर ने दिया था, कर्म-संन्यास लेकर

जंगल में वास करने को नहीं। उनका स्पष्ट रूप से आदेश है—हे, अर्जुन ! तेरा अधिकार, मात्र कर्म करने का है, कर्म का फल (मले या न मिले) कभी भी तेरे अधिकार या वश का नहीं, अतः अपने कर्म का अमुक फल मिले इस हेतु मन में रख कर कार्य करने वाला मत बन, और कर्म न करने का आग्रह भी मत कर।

सृष्टि-चक्र चलाने के लिए, कर्म फल में आसक्ति न रखते हुए, समता वाली-बुद्धि से (कर्म का फल अनुकूल हो या विपरीत) दोनों हालत में अपने नियत-कर्म को यथा साध्य करते ही जाना चाहिए। "योगः कर्मषु कौशलम्" कुशलता पूर्वक प्राप्त कर्म करने को ही योग या कर्मयोग कहते हैं। और यही जीवन व्यतीत करने का उत्तम मार्ग है। कर्ममय संसार की झंझटों से ऊबकर पलायनवादी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर संन्यास लेना उचित नहीं है।

अतः "कर्म संन्यासात्कर्म योगो विशिष्यते" द्वारा अर्जुन की शंका का समाधान कर दिया है कि कर्म का स्वरूपतः त्याग (संन्यास) की अपेक्षा कर्मरत (कर्मयोग) होकर जीवन व्यतीत करना अधिक श्रेयष्कर है।

अमुक कर्म का अमुक फल होना चाहिये, ऐसा निश्चय ही, अवरोध, शिथिलता एवं निराशा का जन्मदाता होता है। यदि फल अनुकूल हुआ तो, खुशी से अहंकार और प्रतिकूल हुआ तो निराशा से अकर्मण्यता। अनुभव ऐसा ही है। जब यह अपने अधिकार का है नहीं तो फिर हम बेकार की परेशानी लेकर अवरोध क्यों उत्पन्न करें।

कर्त्तव्य परायणता के विषय में एक पुरातन कथनाक है। एक सिद्ध योगी एक राजा के पास पहुँचे और उनसे प्रजा का हाल पूछने लगे। राजा अपनी प्रजा की कर्त्तव्य-परायणता और सत्यनिष्ठा की प्रशंसा करने लगा। योगी ने शंका प्रकट की। इसकी प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिये एक पोखर खोदा गया। प्रजाजन को यह सूचना दी गयी कि प्रत्येक घर से इस पोखर में एक लोटा दूध डालना है। अमावस्या की काली रात्रि थी। सूर्योदय के पहले यह कार्य सम्पन्न होना था। सभी ने ऐसा किया परन्तु जब सुबह देखा गया तो पोखर में पानी ही पानी भरा पड़ा था—मुश्किल से दो चार लोटा दूध का अंश मिश्रित मालूम पड़ा। योगी ने कहा, हे राजन ! तुम कितने धोखे में थे। सभी ने यह सोचा कि अन्य सभी लोग तो दूध डालेंगे ही हमारे एक लोटा पानी डालने से कोई अन्तर न आयगा। प्रायः सभी ने अपना कर्त्तव्य धर्म भुला दिया। नतीजा साफ था। अतः राजा अत्यन्त ही चिन्तित हुआ।

इसके अतिरिक्त कर्मफल मनुष्य के वश का नहीं क्योंकि कोई भी कार्य सम्पादन होने के लिये पाँच कारणों का होना जरूरी होता है।

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥ गी० २८-१४

ये पाँच कारण हैं—अधिष्ठान (स्थान), कर्त्ता (कार्य करने वाला), करण अर्थात् भिन्न-भिन्न साधन, कर्त्ता की अनेक पृथक-पृथक चेष्टाएँ अर्थात् व्यापार, और उसके साथ ही अन्तिम कारण दैव (ईश्वर) है।

व्यक्ति विशेष रहे या न रहे, जगत् का अखंडित व्यापार चलता ही रहता है। मनुष्य जिसे अपने ही कर्त्तव्य का फल समझता है वह वास्तव में केवल उसी के प्रयत्नों का फल नहीं है। वह तो उसके प्रयत्नों तथा संसार के अन्य व्यापारों या चेष्टाओं का परिणाम है। प्रयत्न की सिद्धि होने में जगत् के जिन विविध व्यापारों की सहायता आवश्यक है, उनमें कुछ व्यापारों की जानकारी मनुष्य को रहती है और उनकी अनुकूलता पाकर ही वह यत्न किया करता है। परन्तु प्रयत्न के लिये अनुकूल या प्रतिकूल, सृष्टि के और भी कई व्यापार हैं जिनका हमें ज्ञान (जानकारी) नहीं है। और इसी को दैव कहते हैं जिसकी प्रेरणा से सभी व्यापार चलते रहते हैं।

अतः यह अनुभूत सत्य है कि मनुष्य किसी कार्य की सम्पन्नता में निमित्त-मात्र है। असल में फलाफल का देनेवाला तो यही पाँचवा कारण ईश्वर ही है। अज्ञान से उत्पन्न अहंकारवश मनुष्य अपने आपको ही सर्वेसर्वा समझ बैठता है (I am the master of all, I Survey)

इसके अतिरिक्त, इस कर्मयोग निष्ठा का थोड़ा भी आचरण मनुष्य को महान् विपत्तियों से बचाता हुआ प्रगति की ओर ले जाता है। तभी तो योगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन से ही नहीं वरन् समस्त मानव जाति से कहा है—"तस्मात् योगी भवार्जुन" हे मानव ! तू कर्म योगी ही बनो। इसी में तुझे शांति और सुख मिलेंगे। और यही कारण है कि सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में गीता शास्त्र का विशिष्ट स्थान है। अपनी महानता और जीवन्त दर्शन की महानता के कारण भारत ही में नहीं वरन् संसार के अत्यन्त प्रगतिशील कहे जाने वाले राष्ट्रों में भी अपना गौरवपूर्ण विशिष्ट स्थान बना लेने में वह समर्थ हो सकी है। यह युग का आवाहन है कि इन महामन्त्रों की गूंज, प्रत्येक व्यक्ति के विचार तथा आचरण में प्रतिबिम्बित हो।

"सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।"

———

पवित्र होना और दूसरों का हित करना—सभी उपासनाओं का यही सार है। जो दरिद्रों में, दुर्बलों में और रोगियों में शिव को देखता है, वही शिव की सच्ची पूजा करता है, और यदि वह केवल प्रतिमा में शिव को देखता है, तब उसकी पूजा मात्र प्रारंभिक है

— स्वामी विवेकानन्द

मंगल कामनाओं के साथ

मंगला मेटल्स

मेटल कन्टेनर के निर्माता

एवम् जेनरल आर्डर सप्लायर्स

ए २, पत्रकार नगर,

कंकड़बाग कॉलोनी,

पटना—२०

This is the gist of all worship—to be pure and to do good to others. He who sees Siva in the poor, in the weak, and in the diseased, really worships Siva; and if he sees Siva only in the image, his worship is but preliminary.

SWAMI VIVEKANAND.

WITH BEST COMPLIMENTS FROM :

MANGALA METAL

(Manufacturer of Metal Container and General Order Suppliers)

A 2, Patrakar Nagar,

Kankarbagh Colony,

PATNA—20